प्रकाशक
साहित्य भवन लिमिटेड,
प्रयाग।

पाँचवाँ संस्करण मूल्य १॥)

मुद्रक
गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,
हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

समर्पण

गोलोकवासी

पूज्यपाद पंडित राधाचरण गोस्वामी

को

श्रद्धा और भक्तिपूर्वक

समर्पित

—वियोगी हरि

प्रकाशकीय

पुस्तक का पाँचवा संस्करण प्रस्तुत करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव करते हैं। पुस्तक की उपयोगिता के विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ प्रतीत होता है। पुस्तक का संस्करण नवीन प्रस्तुत इस बात का स्वयम् ही प्रमाण है कि पुस्तक उपयोगी सिद्ध हुई है। आशा है विद्वान तथा पाठक इस पुस्तक का भविष्य में भी उचित लाभ उठाते रहेंगे।

पुरुषोत्तम दास टंडन
मंत्री

साहित्य भवन लि०,
प्रयाग

उपोद्घात

यह श्रीयुत वियोगी हरिजी के कई सुन्दर साहित्यिक सन्दर्भों का संग्रह है। इसकी निरवद्य गद्य-पद्य रचना रोचक और मधुर है! गद्यभाग वियोगीजी की ललित लेखनी की लीला और पद्यभाग सूरदासजी से लेकर सत्यनारायणजी तक नवीन-प्राचीन कवि-कोविदों की काव्य-कला की कमनीय कृति है। इसके भक्तों के व्यंग्य, रँगीला भाव, आँख और हिन्दी कवि, सच्चा मनोराज्य व्रजमण्डल, साहित्यिक चन्द्रमा प्रभृति प्रबन्ध पढ़ने से मनोमुकुल प्रफुल्ल हो सकता है

काव्य-कानन में अब रसिक भ्रमरों को भटकने की आवश्यकता नहीं है। एकही स्थान पर उन्हें सब प्रकार से परिमल-पूर्ण प्रसून प्राप्त हो सकेंगे, क्योंकि व्रजभाषा-वाटिका के चुने हुए पुष्पों से यह ललित कलित माला बनायी गयी है। इसे गले का हार बनाने में कभी हार नहीं और न इसे साहित्यिक आहार का आगार कहने में ही अत्युक्ति है।

एक तो इसमें व्रजभाषा की मधुर कविताओं की यथास्थान पुट है, दूसरे इसके रचयिता हैं "व्रज-साहित्य के मधुप, श्री राधारमण के अनन्य सेवक हरिश्चन्द्र के अनुयायी, रसिकवर वियोगी हरिजी" फिर इसकी सरसता में सन्देह करना "किमाश्चर्य्यमतः परम्" ही है।

सचमुच इस "साहित्यविहार" में विहार करने से व्रजभाषा की बहार आँखों के आगे आ जाती है। इस शुष्क समय में व्रजभाषा का यह वीणा-विनिंदित सरस स्वर सुना कर सुरसिकों के श्रवणों को सुख देने के कारण श्रीयुत वियोगीजी साधुवाद के भागी होंगे, इसमें सन्देह नहीं है।

९०, सीताराम घोष स्ट्रीट,
कलकत्ता
सं० १९८३

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

सन्दर्भ सूची

श्रीहरिः

साहित्य-विहार

साहित्य-माधुरी

न ब्रह्मविद्या, न च राजलक्ष्मी
स्तथा, यथेयं कविता कवीनाम् ।

यों तो सर्वत्र ही विधि-विधान में माधुरी मुकुलित मिलती है, किन्तु जो माधुरी साहित्य-सौंदर्य में है, जो माधुरी रस-रत्नाकर में है, जो माधुरी मार्मिकजनों की मानस-मंजरी में है, वह कैशोर्य-लावण्य में, लक्ष्मी-लहरी में, तथा योगियों की समाधि-साधना में कहाँ ! जो माधुरी कवि-कल्पना एवं कविता-कादम्बिनी में पायी जाती है, वह माधवी-मल्लिका के मकरन्द में कहाँ ! मेरी सम्मति में जो माधुरी 'कवित्त-रस' में है, वह 'तन्त्री-नाद' 'सरस राग' अथवा 'रतिरङ्ग' में नहीं । साहित्य-माधुरी-मर्माहत रसिकजन ही—"धीर समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली" एवं 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मन्तव्यः' के बीच का—रस-रहस्य समझ सकते हैं । जो साहित्य-माधुरी में मतवाला है, उसे कोई भी मतवाला अपने मत में नहीं मिला सकता । उस ख़ुदमस्त का मज़हब वेग, अवस्ता, बाइबिल या क़ुरान से परे है । वह तो समस्त धर्मों की साधना वाणी के मंदिर में ही कर लेता है ।

व्याकरण में दाँत खटाखट करने वाले या दर्शनों के पचड़े में पचने वाले भी जब इस माधुरी का आकण्ठ पान करते हैं, तब वे भी अपनी विभोर रसना को इस प्रकार उपदेश करने लगते हैं—

"जौ निबौरी क्यों लगै, बौरी चाखि अँगूर ।"

सचमुच ही, इस माधुरी में एक अलौकिक द्राक्षा-रस का स्वादु मिलता है, हृदय में एक अनूठी गुदगुदी पैदा होती है । सूर के पद, तुलसी

की चौपाइयाँ, देव और घनानंद के कवित्त एवं बिहारी के दोहे क्या हैं? इसी सुधा-रस से भरे कटोरे, साहित्य-माधुरी से छलकते हुए प्याले। जो इस रस में नख से शिख तक डूबे हैं, वे संसार-सागर पार कर चुके; और जो इसमें गोते लगाने से अलग रहे, समझ लो, वे भव-पारावार में ऐसे डूबे कि कुछ ठिकाना !

संसार निस्संदेह परिवर्तनशील है, पर 'साहित्य-माधुरी' में न कभी परिवर्तन हुआ, न हो रहा है, न होगा। आजतक कितने परिवर्तन हुए, कितने आन्दोलन हुए, कितनी हलचल हुई, पर पूछो तो, इस रस-माधुरी पर भी कोई आघात पहुँचा, इसका भी कभी कोई रूपान्तर हुआ। ज्ञानियों और दार्शनिकों में वाद-विवाद खड़े हुए, सम्प्रदायों में दलादली हुई, राजनीतिज्ञों ने ज़माने का पलटा खाया, विज्ञानियों ने विद्युत् और वाष्प में नित्य नवीन आविष्कार किये, किन्तु यह माधुरी सदा अक्षुण्ण ही रही, एकरस ही रही। सब कुछ जूठा हो गया, पर यह अनूठी-की-अनूठी ही बनी रही। कितने रसिकों ने इस प्याले से ओंठ न लगाये होंगे, पर यह आज तक जूठा न हुआ! क्यों? इसलिये कि यह इस लोक की निधि नहीं है, भ्रामक जगत् की धरोहर नहीं है। किसी के मत में साहित्य-माधुरी कोरी कल्पना है और किसी की राय में केवल मनोरञ्जन या कभी-कभी चाटने के लिये चटपटी चटनी पर, वास्तव में, ऐसा कहनेवाले शब्द-रत्नों के जौहरी नहीं। ऐसा वेही कहेंगे, जिन्हें नीरस काम-धन्धों के मारे इसे पान करने की छुट्टी नहीं, जिनकी आँखें क्षणिक ऐश्वर्य और भोग-विलास की चकाचौंध से चौंधिया गयी हैं जिनके पास कसकीला या ज़ख्मी दिल नहीं है। साहित्य-माधुरी रसज्ञों के लिये कोरी कल्पना नहीं है। वह तो उनकी दृष्टि और सृष्टि में उतनी सच्ची है, जितनी आस्तिक के लिए ईश्वर की अस्ति। वह केवल चटपटी चटनी नहीं, वरन् सदा के लिए तृप्त कर देनेवाली सुधा है। सब कुछ है पर इस माधुरी का रहस्य, इस रत्न का जौहर, केवल काँच के टुकड़े परखनेवाले क्या समझ सकते हैं!

मत्वा पद-ग्रन्थनमेव काव्यं
मन्दाः स्वयं तावति चेष्टमानाः।
मज्जन्ति बाला इव पाणिपाद-
प्रस्पन्द मात्रं प्लवनं विदन्तः॥

—नीलकण्ठ दीक्षित

अर्थात्, कविता के रहस्य को न समझनेवाले केवल तुकबन्दी को ही

काव्य रचने का प्रयत्न करते हुए उन बालकों की भाँति डूबते हैं, जो हाथ-पैर फटफटाने को ही तैरना समझ कर पानी में कूदने का साहस कर बैठते हैं!

मैं इन विद्वच्चक्रचूड़ामणियों को दूर से नमस्कार करता हूँ। ये भले मानस साहित्य-माधुरी को न तो नष्ट ही कर सकते हैं, और न उस पर किसी भाँति की कलंक-कालिमा ही पोत सकते हैं। मैं तो उन रसिक मधुव्रतों का एकान्त उपासक हूँ, जो इस माधुरी-मकरन्द के पीछे उन्मत्त हो घूम रहे हैं, जो इस शुष्क युग में भी सदा यही सुना करते हैं कि—

ऐहै बहुरि बसंत रितु, इन डारिन वै फूल।

—विहारी

सच्चे आशावादी साहित्य-रसिक ही हैं। न जाने, सुकवि हाली ने क्यों यह निराशा-जनक शेर लिख मारा—

शायरी मर चुकी अब ज़िन्दा न होगी, यारो।
याद कर करके उसे जी न कुढ़ाना हर्गिज़॥

जनाब हाली की राय में शायरी अब ज़िन्दा ही न होगी, वह सदा के लिये मर चुकी! ठीक, पर साहब, आप को यह भी साफ़-साफ़ खोल देना चाहिए था कि शायरी किनके लिये मर चुकी। जिन्हें शायरी में सत्य और श्रेय की झलक नहीं मिलती, जिनके लिये साहित्य केवल कोरी कल्पना ही है, उनके लिये तो वह पहले से ही मुर्दा थी, ज़िन्दा ही कब थी? पर जो उस पर सौ जान से फ़िदा हो रहे हैं, योगी हो गली-गली अलख जगा रहे हैं, नशा-सा पिये झूमते फिरते हैं उनके लिये भला शायरी कभी मर सकती है, साहित्य-माधुरी लुप्त हो सकती है? कभी नहीं, हर्गिज़ नहीं।

भले ही कोई नीरस बाँस को चूसे, पानी से घी या धूल से तेल निकाले अथवा आकाश-वाटिका से सुमन-संचय करे—हमें कोई आपत्ति नहीं। हम गँवार लोग तो, अपनी सीधी-सादी बुद्धि को उच्च सिद्धान्तों में न उलझा कर, साहित्य-माधुरी के आस्वादी ही बनना चाहते हैं। भले ही कोई हमें 'ओल्ड फ़ूल' या खूसट की उपाधि से भूषित करे—हम अपने सिद्धान्त

से टस से मस होने के नहीं। किससे कहें और क्या कहें! हम लोगों को जितना आनंद इस साहित्य-माधुरी में मिलता है, उतना इस लोक में तो क्या, उस लोक में भी न मिलता होगा, यह अत्युक्ति नहीं, सिद्धान्त है। उस लोक का आनन्द इसी माधुरी-द्वारा ही तो प्रत्यक्ष होता है, उस पार की छटा इसी माधुरी-नौका पर आरूढ़ होने पर ही तो दृष्टिगोचर होती है।

भक्तों के व्यंग

ज्ञानियों ने कैसा बखेड़ा मचा रक्खा है! व्यवहार और परमार्थ, इन दोनों में पृथ्वी-आकाश का अन्तर मान बैठे हैं! उनका कहना है कि व्यवहार आपस में होता है, अतः वह सांसारिक है, क्षणिक है, असार है। और परमार्थ? परमार्थ तो परमेश्वर के प्रसङ्ग में प्रयुक्त होता है। जहाँ बेचारे मन और वाणी की भी पहुँच नहीं। उस "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" का चित्रण या वर्णन संकल्प-विकल्पात्मक मन से या चर्म-जिह्वा से कैसे हो सकता है!

हमें तो जितने पहुँचे हुए मिले, सबों ने एक स्वर से यही मर्म बताया कि जो बात व्यवहार में है, वही परमार्थ में भी। दोनों एक ही हैं। दोनों एक ही कसौटी पर कसे जाते हैं। हमारा ब्रह्म मन-वाणी के निकुञ्ज में विहार किया करता है। वह स्तुति सुनता है, तो साथ ही गालियाँ भी खाता है। वह भक्तों से 'हा हा' कराने की इच्छा रखता है, तो उनके मान की मिठाई चखने से भी मुँह नहीं मोड़ता। हम लोग शिष्ट और सभ्य परमेश्वर के उपासक नहीं। वह हम पर शासन नहीं करता। हम उसकी गोद में खेलते हैं, पार्श्व में बैठते हैं, मनमानी सुनाया करते हैं। अधिक क्या, वह हमारा सलाहकार है, सहवासी सखा है। यहाँ, क्या व्यवहार और क्या परमार्थ! भेदभाव हो तब इन पचड़ों में पड़े। जो दो परमेश्वर मानता हो वही भयतीत रहे। हमारा तो वह एक है और हम भी उसके हैं।

परमात्मा ने सोचा होगा कि लोग हमारे आज्ञानुसार, मरज़ी के मुताबिक चलेंगे, सो कुछ न हुआ, उलटा आपको ही भक्तों के पीछे-पीछे चलना

पड़ा। चलेंगे नहीं, तो गालियाँ खायँगे। गालियाँ बुरी लगती हैं तो यह सारा पसारा ही क्यों पसारा? किसने कहा था? आप ही अकेले मौज करते। एक ओर नाटक खेलने का हवस और निर्लिप्त, निर्विकार, निःसंग, निरीह आदि ऊँटपटाँग उपाधियाँ धारण करने का शौक! दोनों बातें एक साथ कैसे होंगी?

एक सङ्ग नहिं होइ भुवाला।
हँसब ठठाइ, फुलाउब गाला॥

पर तुम सामर्थ्यवान् हो। तुम्हारी नाट्य-कला कल्पनातीत है। तुम विचित्र, तुम्हारी रचना भी विचित्र! यथा कारणम् तथैव कार्यम्। इसी से तो हम तुम्हें अपने से पृथक् नहीं मानते। हमारा-तुम्हारा सदा का व्यवहार है, जन्म-जन्म का नाता है, हमेशा से बनती चली आयी है। इसी बलभरोसे पर तुम्हारे जनों ने, तुम्हें; न जाने क्या-क्या, टेढ़ी-मेढ़ी बातें नहीं सुनायीं।

सब से पहले तो तुम्हारे साथ व्यवहार करना ही टेढ़ी खीर है, तुम से लौ लगाना ही महाकठिन है। कच्चे दिलवाले तो तुम्हारी संगदिली देखते ही नास्तिक बन बैठते हैं। कुछ सज्जन शील-सङ्कोचवश आस्तिक होते हुए भी निराशा के पहाड़ से सिर टकराया करते हैं। ऐसा तो कहीं लाख में एक मिलेगा जो तुम्हारी झिड़कियाँ सुनने पर भी अपनी बात पर आदि से अन्त तक अड़ा रहे, तुम्हारे चरणों पर अपना मौलि-मुकुल चढ़ाने को सदैव सहर्ष खड़ा रहे। तुम्हारे साथ पार पा जाना सहज नहीं। कोई जान ही क्यों न दे, पर तुम टस से मस होने के नहीं—

चाह में कोई मर भी मिटे तो ख़्याल में कब लाते हो।
गर्चि जहाँ में, मसीहा वक्त़ के तुम कहलाते हो॥

—प्रतापनारायण

बड़े घमण्डी हो! किसी की आधी भी बात सुनने की फ़ुरसत नहीं। पड़े-पड़े द्वार पर चिल्लाया करो, ख़ुशामद किया करो, तुम्हारे कान पर जूँ भी नहीं रेंगती या सुन कर अनसुनी कर जाते होगे। जो हो—दस-पाँच पुराने सड़े-गले पापियों को तार कर धर्म-स्तम्भ गाड़ रखा है। हमें तो प्रतीति नहीं होती कि तुमने किसी के साथ कभी कोई एहसान किया होगा—

कैसे तुम गनिका के औगुन न गिने, नाथ !
कैसे तुम भीलनी के जूठे बेर खाये हौ ।
कैसे तुम द्वारका में द्रौपदी की टेर सुनी,
कैसे तुम गज-काज नङ्गे पायँ धाये हौ ॥
कैसे तुम सुदामा के छन में दरिद्र हरे,
कैसे तुम उग्रसेन। बन्दी तें छुड़ाये हौ ।
मेरी बेर एती देर कान मूँदि रहे, नाथ !
'दीनबन्धु, दीनानाथ' काहे कों कहाये हौ ॥

प्रश्न तो अच्छा किया, पर उत्तर मिलना संभव नहीं । 'दीनबन्धु, दीनानाथ' की पदवियाँ यदि सेंत में मिलती हैं, तो हानि ही क्या ? लोग तो उपाधियाँ पाने के लिए न जाने क्या-क्या करते हैं । अच्छा दीनबन्धु ही सही, पर यह तो कहो, कुछ इधर भी कृपा करोगे ?

हरि, हौं बड़ी बेर को ठाढ़ो ।
जैसे और पतित तुम तारे, तिनही मैं लिखि काढ़ो ॥
युग-युग बिरद यहै चलि आयौ टेर कहत हौं तातें ।
मरियत लाज पंच पतितन में हौं घट कहौ कहाँ तें ॥
कै अब हार मानिकैं बैठो, कै करु बिरद सही ।
सूर पतित जो झूँठ कहत है, देखौ खोलि बही ॥

सूरदासजी, आप क्यों इस फेर में पड़े हैं ? यदि इन्हें अपने बिरद की ही लाज रखनी होती, तो दुष्ट नास्तिकों के बीच में अपने भक्तों पर क्यों तालियाँ पिटवाते ? बही-खाता हो, तो खोलकर दिखाया जाय । वहाँ का तो हिसाब-किताब कुछ निराला ही है । केवल कोरी बातें बनवा लीजिये—

माधव, आप सदा के कोरे ।
दीन दुखी जो जाँचत तुमको, सो दानन के भोरे ॥
—सत्यनारायण

सब ज़बानी जमा-ख़र्च है । हाँ, हार मानकर अवश्य बैठ जायँगे ।

दिवाला निकाल देंगे। तीन दिवाले साहु। नाम भी साँवलियाँ साहु रख चुके हैं !

सूरदासजी समझाने-बुझाने से माननेवाले नहीं। अंधे की सीध प्रसिद्ध है। जब आपको उस अँधाधुन्ध सरकार से कोई यथेष्ट उत्तर न मिला, तब ताल ठोंक कर लड़ने को तैयार हो गये—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुम्हीं माधव ! अपुन भरोसे लरिहौं॥
हौं तौ पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिनु करिहौं॥
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि-हीरा।
'सूर' पतित तबहीं लै उठिहैं, जब हँसि देहौ बीरा॥

हुज़ूर ! किसी तरह अन्धे से पिण्ड छुड़ाइये। मुस्करा कर बीड़ा दे दीजिये। क्यों व्यर्थ संसार में अपनी बदनामी का ढोल पिटवाते हैं ? अन्धों-बहरों का क्या ठिकाना ? आपको बिना बिरद का कर देंगे। और आप के ही भरोसे पर ! "मैं पायौं हरि हीरा" अहा ! क्या ही ज़ोर है ! कैसा ज़बरदस्त क़ानून है ! धन्य, सूरदास ! धन्य !!

भक्ताग्रगण्य भीष्म ने भी कुछ ऐसा ही पाँसा फेंका था। देखिये न—

जो न करौं तौ सपथ कृष्ण की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ।

यहीं तो क़ाफ़िया तङ्ग हो जाता है।

× × ×

गोसाइँ तुलसीदास ने आप के साथ अपनी खूब जोड़ी मिलायी थी—

मैं हरि पतित-पावन सुने।
हौं पतित, तुम पतित-पावन, दोउ बानिक बने॥

जब आपके दरबार में गोसाइँ जी की किसी भी तरह रसाई न हो सकी, तब आप के नाम एक "बैरङ्ग चिट्ठी" लिख भेजी; जिसका नाम विनय-पत्रिका है। चिट्ठी क्या है, जीवन भर का लम्बा-चौड़ा चिट्ठा है। उसका

मज़मून ऐसा प्रभावोत्पादक है, कि उसे पढ़कर पत्थर का भी कलेजा पिघल कर मोम हो जाता है। जब गोसाईं जी पत्रिका का अधिकांश लिख चुके, तब उनके मन में आया कि कहीं मेरा रोना भुस का कूटना ही न समझा जाय; इसलिये दो पंक्तियाँ ऐसी लिखदीं, जिन्हें पढ़ कर पत्रिका पर हठात् ध्यान देना पड़ा। वे पंक्तियाँ ये हैं। लिखते हैं—

हौं अबलौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो, न रावरे चेते।
अब 'तुलसी' पूतरो बाँधिहै, सहि न जात मोपै परिहास एते॥

देव! अभी तक तो मैं आपके करतब को देख रहा था कि आप मेरे लिए क्या करते हैं; पर आप तो आज तक न चेते! अब आपकी निष्ठुरता का ठीक-ठीक इलाज करता हूँ। वह यह कि आपके नाम का एक पुतला बना बाँस पर लटका कर गाँव-गाँव में लिए हुए कहता फिरूँगा कि 'भाई' देख लो यही अयोध्या के राजाधिराज सूम-शिरोमणि रामचन्द्र हैं।' इतने पर भी क्या लज्जा न आएगी? न आएगी, लज्जा को घोल कर तो आप कभी के पी चुके—

जब लादि लई तब लाज कहा?

× × ×

इस त्रिताप-संतप्त जीव का अब भी उद्धार करो, नहीं तो दुनिया तुम्हें झूठा कहेगी? क्यों नाहक झूठे बनते हो?

अब कलिकाल में जो करौ न सहाय मेरी,
तुम्हें लोग हँसिकैं कहैंगे, 'हरि'! झूठे हौ'—

अवश्य झूठे हो, इसमें संदेह ही क्या? धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में भोले-भाले अर्जुन के आगे बड़े-बड़े बाहु उठा कर किस बूते पर यह प्रतिज्ञा की थी—

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत;
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

धन्य सत्यनिष्ठाचार्य! मथुरा जाते-समय गोपाङ्गनाओं से चार ही दिन में लौट आने की प्रतिज्ञा कर गये थे न? अच्छा पालन किया!

तुम्हारा एक मोहन (मोह न) नाम ही सार्थक है। मोह तो तुम में लेशमात्र भी नहीं। रसनिधि कहते हैं—

मोहन ! तेरे नाम कौ, कढ्यौ वा दिना छोर।
व्रजबासिन कौं छाँड़िकैं, चले मधुपुरी ओर ॥
सुमिरत जाके चरन कौं, मोह लगत कौ जात।
निरमोही जो होय वह, का अचरजु की बात ॥

पीछे, प्रतिज्ञारूपी मूलधन का व्याज चुकाने के लिये अपने सच्चे मित्र उद्धव को व्रज में भेज दिया। यही आपकी सत्य-वीरता है ? भूल गये ! तुम्हें वीर कहता ही कौन है ? तुम तो रणछोड़ हो, रणधीर नहीं।

रसिकवर भारतेन्दुजी ने भी हुजूर की सचाई पर ख़ूब दाद दी है—

आओ मेरे झूठन के सिरताज।
छल के रूप, कपट की मूरत, मिथ्यावाद-जहाज ॥
क्यों परतिज्ञा करी रह्यौ जो ऐसे उलटो काज।
पहले तौ अपनाय त आवति तजिबे में अब लाज ॥

संसार-सागर से मुफ़्त नहीं तारना चाहते, तो हम से उतराई ले लो, हम देने को तयार तो हैं। हमारे पास और तो कुछ है नहीं—एक मन है और उसी की तुम्हें चाह भी है। रत्नाकर आपका शयनागार है, पद्मा आपकी गृहिणी है; लोक-त्रय के आप सम्राट् हैं। पर मन आप के पास नहीं है। उसे राधा ने चुरा लिया है। सो, हम से उतराई में ले लो। चरणों पर अर्पित है—

रत्नाकरस्तव गृहं, गृहिणी च पद्मा,
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधागृहीतमनसः मनसोऽस्ति दैन्यं,
तन्मे गृहाण पद-पंकजमर्पितं ते ॥

× × ×

क्यों नख़रे करते हो ! कह क्यों नहीं देते कि हम झूठे हैं कपटी हैं, विश्वास-घाती हैं ! नख़रों की भी तो कोई हद होनी चाहिए—

नखरा राह-राह कौ नीको।
इत तौ प्रान जात हैं तुम बिनु, तुम न लखत दुख जी कौ।
आवहु, बेगि नाथ, करुना करि, मति जु करौ मन फीकौ॥
'हरीचन्द' अठिलानपने कौ, बिधि ने दियो तुव टीकौ।

और भी—

खोटाई पोरहि-पोर भरौ।

भारतेन्दु जी! यह आप क्या कहते हैं? काले रङ्गवाले तो सभी खोटे होते हैं। यह रङ्ग का प्रभाव है—

ऊधो! कारे सबै बुरे।
कारे की परतीति न करिये, विष के बुते छुरे।
कारो अंजन देत दृगनमें, तीखी सान धरे॥
नाग नाथि हरि बाहर आये, फन-फन निरत करे।
कोयल के सुत कागा पाले, अपनोहि ज्ञान धरे॥
पंख लगे जब गये सु उड़ि वै, अपने काज सरे।
'सूरस्याम' कारे मतवारे, कारे तें काल डरे॥

काले से काल भी काँपता है। अर्थ स्पष्ट है। काले कृष्ण से तो काल डरता ही है, उनके भक्तों के भी पास उसकी दाल नहीं गलती।

× × ×

विरक्त और मुक्त से अनुरक्त का स्थान कहीं ऊँचा है। अनुरागी ही दिल खोल कर भगवान से बात कर सकता है। एक दिन श्रीकृष्ण को एक अनुराग-रँगीली गोपिका ने ऐसा छकाया कि लज्जित ही होना पड़ा। वह थी राधिकाजी की तरफ़दार। कहती है—

सूकर ह्वै कब रास रच्यो; अरु बामन ह्वै कब गोपि नचाई?
मीन ह्वै कौन के चीर हरे, तिमि कच्छप ह्वै कब बेनु बजाई?
होय नृसिंह, कहौ हरि जू! तुम कौन की छातिन रेख लगाई?
कीर्ति-सुता प्रगटी जब तें तब तें तुम केलि-कला-निधि पाई॥

बिना गुरु-कृपा के कौन किस विद्या में पारंगत हुआ? राधिकाजी के तो श्रीकृष्ण पूर्णतः अधीन हैं। इसलिये कि आप को 'केलि कला-निधि' उन्हीं

। प्राप्त हुई है। वे गुरु हैं, आप आज्ञापालक शिष्य। धन्य राधे !

जिन सिगरी वसुधा रची तत्व मिलैकैं पाँच।
ता मोहन कों राधिका किते नचावत नाच॥

ब्रज में तो गोपियाँ ही तुम्हें नचा लिया करती थीं। अहा !

सेस महेस, गनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद, सुवेद बतावैं॥
नारद लै सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊँ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाँछ पै नाच नचावैं॥

प्रेमियों की महिमा अकथनीय है। जो—

उमा दारु-योषित की नाईं। सबै नचावत राम गोसाईं॥

वही गोपियों के आगे ज़रा-से छाछ के लोभ पर नाच रहा है! इतना नहीं, अहीरों की छुहोरियाँ श्रीकृष्ण को खरी-खरी सुनाने से भी नहीं चूकती हैं। एक गोपी तो श्यामसुन्दर का कुछ मोल ही नहीं आँकती—

हाँसी में हार हर्‍यो 'रसखानि' सु जो कहुँ नैक तगा टुटि जैहै।
एकहि मोती के मोल लला! सिगरे ब्रज बाट की हाट बिकैहै॥

अथवा

दानी भये नये माँगत दान सुनै जुपै कंस तो बाँधे न जैहौ।
रोकत हौ मग में 'रसखानि' पसारत हाथ कछू नहिं पैहौ॥
टूटै छरा, बछरा अरु गोधन जो धन है सु सबै धरि दैहौ।
जैहै अभूषन काहु सखी को तौ मोल छला के, लला! न बिकैहौ॥

समझे, लला,! तुम्हें कोई एक छल्ला के मोल पर भी न खरीदेगा। तुम्हारा खरीदार पूरा कमबख्त होगा। जिसने तुम्हारी मतवाली रसभरी चितवन से आँख लड़ायी, उसे प्राणों के लाले पड़ गये।—

नयनन की कोरैं कोट लैहै।
है कोई प्रेमी रसिक रँगीलो, प्रान निछावरि दैहै।
नूतन मधु में मोल लै आयो, छुवन खुमारी एहै॥
'ललित किसोरी' तन छिन जियरा टूक टूक लैहै॥

श्यामसुन्दर ! तुम्हें श्याम वर्ण से, सुना है, बड़ा प्रेम है। मेरा मन भी तो काला है। उसे अपना साथी क्यों नहीं बना लेते ?

कारो जमुना-जल सदा चाहत हौ घनस्याम।
बिहरत पुंज तमाल के कारे कुंजन-ठाम॥
कारे कुंजन-ठाम, कामरी कारी धारे।
मोर पखा सिर धरे करे कच कुञ्चित कारे।
बरनै 'दीनदयाल' रँग्यौ रँग बिषय-बिकारो॥
संग राखियै स्याम ! अहै मन मेरो कारो॥

प्यारे ! तुम त्रिभङ्गी हो, तो मेरा हृदय भी कुटिल है। इससे उत्तम सुख-निवास तुम्हें दूसरा न मिलेगा। मैं अपने हृदय को सरल नहीं बनाना चाहता। सरल और कुटिल का कहीं साथ सुना है। आओ, पधारो!

करौ कुबत जग, कुटिलता तजौं न, दीन-दयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभङ्गी लाल॥

कुटिल को कुटिल ही प्रिय होता है। प्रमाण लीजिये—

जैसे को तैसो मिलै, तबहीं जुरत सनेह !
ज्यों त्रिभङ्ग तनु स्याम त्यों कुटिल कूबरी देह॥

× × ×

प्यारे ! तुमने तो अपने दोषों को सदा छिपाया है, पर तुम्हारे जनों ने सब पता लगा डाला है। तुम डाल-डाल पर चले, तो वे पात-पात पर। तुम ही कह दो, तुम्हारी कौन-सी बात छिपी रही ? सुनते हैं, दही-माखन की चोरी में तुम पूरे कुशल हो। पर इससे भी बेदाग न निकल सके। पकड़े गये, बाँधे गये, नचाये गये और न जाने क्या-क्या किया गया। हाँ, निर्लज्जता में निःसन्देह तुम एक ही हो। कहो, याद है, जब यशोदाजी ने तुम्हें ऊखल से बाँध दिया था, और थप्पड़ों से गाल लाल किये थे ? सब स्मरण होगा, पर स्वीकार करना तो सीखा ही नहीं। भैया ! तुम्हारा ऊखल से बाँधा जाना भी एक लीला थी। वेद और उपनिषद् जब तुम्हें किसी तरह क़ैद न कर सके और 'नेति-नेति' कहते हार मान बैठे, तब तुम्हें बड़ा गर्व हुआ होगा;

किन्तु वह गर्व यशोदाजी के आगे चूर-चूर हो गया। वहाँ कुछ भी न करते-धरते बना।

सहृदय सत्यनारायण ने, एक पद में, तुम्हारी खूब पोल खोली है। उसमें यह स्पष्टतः दिखा दिया गया है कि तुमने कभी किसी का कुछ भला नहीं किया। अपनी खोटी चाल से लोगों की आँखों में धूल बेशक डाली है। इधर का उधर हेर-फेर कर दिया है। देखिये न—

लेत एक कौ देत दूसरेहिं दानी बनि जग माहीं।
ऐसो हेर-फेर नित नूतन लाग्यौ रहत सदाहीं॥
भाँति-भाँति के गोपिन के जो तुम प्रभु चीर चुराये।
अति उदारता सों लै वेही द्रौपदि कों पंकराये॥
रतनाकर कों मथत सुधा कौ कलस आप जो पायौ।
मन्द-मन्द मुसुकात मनोहर सो देवन कों प्यायौ॥
मत्त गयंद कुवलिया कौ जो खेल प्रान हरि लीने।
वही दया नरसाय दयानिधि सो गजेन्द्र कों दीने॥
करिकैं निधन बालि रावन कौ राजपाट जो आयौ।
तहँ सुग्रीव विभीषण कों करि अति अहसान बिठायौ॥
पौंडरीक कौ सर्वनास करि मालमता जो लीयौ।
ताकों विप्र सुदामा के सिर करि सनेह मढ़ि दीयौ॥
ऐसी 'उमा पलटी' के गुन नेति-नेति श्रुति गावैं।
शेष महेस सुरेस गनेसहुँ सहसा पार न पावैं॥

देख लिया न ? कैसे महान् दानी हैं !

× × ×

अब कुछ इनकी वीरता भी सुन लीजिये। आपने एकबार गोवर्द्धन पर्वत को उँगली पर उठा लिया था। काम तो बड़े साहस और शौर्य का है, पर गणितज्ञों की एक मण्डली की दृष्टि में आपका गोवर्द्धन-धारण कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। कहती है—

तुम गिरि लै नख पै धर्‌यौ, इन तुमकों दृग-कोर।
दो में तें तुमहीं कहौ, अधिक कियौ को जोर॥

'इन तुमको दृग-कोर!' 'इन' से तात्पर्य राधिकाजी से है। 'गिरधारी' को भी दृग-कोर पर रख लिया है। साहस का कुछ ठिकाना! कहिए, कौन वीर है? गिरिधर या गिरिधर-धारिणी?

लोक और वेद दोनों में प्रसिद्ध है कि स्त्री पर हाथ उठाना कायरता है। आपने यह भी न माना। अबला ताड़िका को मार कर अपनी मर्दानगी का नमूना सामने रख दिया। सूपर्णखा को भी नकटी-बूची कर दिया यहाँ, बेचारी पूतना के प्राण चूस लिये! धन्य वीरवर! जब जरासंध ने चारों ओर से इन्हें घेर लिया, तब भागते ही बना। मुँह छिपा कर मारे डर के द्वारका में जा बसे। आज भी लोग आपको "रणछोड़" के नाम से पुकारा करते हैं।

एक बल-पराक्रम और याद आ गया है। जनकपुर की प्रवीण महिलाओं ने श्रीजानकी जी के कर-कमल का कोमल कंकण खोलने को कहा। श्रीमान् धनुर्धर का हाथ काँपने लगा, मुख पर पसीना झलक आया। सारा बल चंपत हो गया प्रेमरँगीली नारियाँ क्या ही व्यंग कर रही हैं—

हँसि पूंछैं जनकपुर-नारि, नाथ! कैसे गजकौ फंद छुड़ायौ!
छोरे न छुटै सियाजू कौ कँगना, कैसे चाप चढ़ायौ?

धनुष जान-बूझ कर थोड़े ही चढ़ाया था। वह तो धोखे से चढ़ और टूट गया था। मिथिलेश-लली की अनुपम सुषमा देख कर आप तृण तोड़ने-वाले थे। तिनके के धोखे हाथ में पड़ गया धनुष। बस, वह टूट गया। इसमें आपकी वीरता नहीं, वैदेही का प्रताप है।

सूरदास ने भी एकबार तुम्हें मर्द का ख़िताब दिया था—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानिकैं मोहिँ;
हिरदै सों जब जाइहो, मर्द बदौंगो तोहिँ!

रसिक वर बिहारी भी अपना स्वर मिला रहे हैं—

कहा भयौ जो बीछुरे? तो मन मो मन साथ।
उड़ी जाहु कितहूँ गुड़ी, तऊ उड़ायक-हाथ॥

खिलाड़ी तेरे हाथ में पतंग की डोर है, उसको जो चाहे सो कर ।

× × ×

तुम्हारी एक शिकायत और सुनने में आयी है । रहीम कह रहे हैं, सुनो—

हरि, 'रहीम' ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर ।
खैंचि आपनी ओर कौं, डारि दियौ पुनि दूर ॥

खींचकर फेंक देना कैसा ? तुम्हारी तो इसी में सराहना है कि आदि से अन्त तक हमारी प्रीति निभा दो । विश्वास-घात से बढ़ कर कोई पाप नहीं । परन्तु तुम तो पाप-पुण्य से बरी हो । ये सब क़ायदे क़ानून तो हम ग़रीबों के लिये रचे गये हैं ।

रवि पावक सुरसरि की नाईं । समरथ कहँ नहिं दोष गुसाईं ॥

इसलिए, जो तुम्हारी इच्छा हो किये जाओ—

परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई । भावइ मनहिं करहु तुम सोई ॥

फिर भी यह समझे रहना कि तुम्हारी सारी बादशाही की डोर हम ग़रीबों के ही हाथ है—

मानिये कहना, दुरे दौलत पै रहने दीजिये;
हम ग़रीबों से है सारी बादशाही आपकी !

और यह युग भी प्रजासत्तात्मक है !

'सूरदास' कबलौं चलिहै यह अँधाधुन्ध सरकार ?

सचमुच, तुम्हारी धाँधली समझ में नहीं आती—

दयानिधि, तेरी गति लखि न परै ।
धर्म अधर्म, अधर्म धर्म करि, अकरन करन करै ॥
जय अरु विजय कर्म कहा कीनो, ब्रह्म सराप दिवायो ।
असुर-योनि ता ऊपर दीनी, धर्म विछेद करायो ॥
पिता-बचन खण्डै सो पापी, जन प्रह्लाद सु कीनों ।
निकसे खंभ बीच तें नरहरि, ताहि अभय पद दीनों ॥

दान धर्म बहु कियौ भानुसुत, सो तुव विमुख कहायौ।
वेद-विरुद्ध सकल पांडव-सुत, सो तुम्हरे मन भायो॥
यज्ञहिं करत विरोचन कौ सुत, वेद विमल विधि कर्मा।
सो छल बाँधि पताल पठायौ, कौन कृपानिधि धर्मा?॥
द्विजकुल-पतित अजामिल विषयी, गनिका नेह लगायौ।
सुतहित नाम लियौ नारायण, सो वैकुण्ठ पठायौ॥
पतिव्रता जालंधर-युवती, सो पतिव्रत तें टारी।
दुष्ट पुंश्चली अधम सुगनिका, सुवा पढ़ावत तारी॥
मुक्ति हेतु योगी श्रम कीनो, असुर विरोधहि पावै॥
अविगत गति करुणामय! तेरी, 'सूर' कहा कहि आवै॥

और भी कुछ अपनी न्याय-शीलता के विषय में सुनने की इच्छा है? अच्छा, सुनिये—

माधव, तुमहुँ भये वेसाख।
वही ढाक के तीन पात हैं, करौ क्यों न कोउ लाख॥
भक्त अभक्त एक से निरखत, कहा होत गुन गाये।
जैसो खीर खवाये तुमकों वैसहि सींग दिखाये॥
सबै धान बाइस पंसेरी, नित तौलन सों काम।
बलिहारी, नहिं विदित तुम्हें कछु ऊँच नीच कौ नाम॥
बेपेंदी के लोटा के सम तुव मति गति दरसावै।
यह कछु कौ कछु काज करन में तुमहिं लाज नहिं आवै॥
जगत-पिता कहवाए, भये अब ऐसे तुम बेपीर।
दिन-दिन दुगुन बढ़ावत जो नित द्रोह-द्रोपदी-चीर॥
जुग करि जोरि प्रार्थना ये ही निज माया धरि राखौ।
'सत्य' दीन दुखियन के हित कौं सदयं हृदय अभिलाखौ।

अक्खर व्यास जी लिख गये हैं—

काबुल में मेवा किये, ब्रज में टेंटी-मूल।
कहूँ-कहूँ गोपाल की जाय सिटल्लें भूल॥

तुम्हारे 'न्यायी' होने में तो मुझ भुनगे को ही सन्देह है—

कहाये न्यायी कबतें नाथ!
कब तें गह्यौ न्याय कौ आसन तजि पापिन कौ साथ!
अँधाधुन्ध सरकार सदाहीं रही तुम्हारे हाथ!
तामें करि सुधार 'हरि' अब क्यों डोंड़त पतित अनाथ॥

कदाचित इसलिए कि तुम मर्यादा-पुरुषोत्तम हो, पर यहाँ मर्यादा का मूल्य नहीं। प्रेम-साम्राज्य सदा से अमर्यादित ही रहा है

जहाँ नेम नहिं प्रेम तहँ, जहाँ प्रेम नहिं नेम;

इसलिये तुम्हारा मर्यादा के अधीन होना ठीक नहीं—

तुमहुँ का मरयादा-बस भये?
तौ हम बे-मरजाद नाथ! अब सोचेहुँ नरक गये॥
निज मरजाद मेटि पतितन सँग कीने नेम नये।
'हरि' अब देहु प्रेम-परवानों, जैसे सबहिं दये॥

× × ×

तुम्हारे लिये रीझना-खीझना दोनों बराबर है। सब धान बाईसपंसेरी। गोसाईं जी का प्रमाण है—

रीझे बस होत खीझे देत निजधाम, रे।

× × ×

तुम्हारे दरबार में हमेशा खुशामदी टट्टू भरे रहते हैं। तुम्हें कोई गालियाँ भी दे, किन्तु तुम्हारे भक्त ऐसे भाष्यकार हैं कि उन्हें स्तुति में पलट देते हैं! रावण ने एक बार सीताजी के आगे तुम्हारी खूब धज्जियाँ उड़ायीं थी—

कृतघ्नी, कुदाता कुकन्याहि चाहै; हितू नग्न मुण्डीनहूँ को सदा है।
अनाथै सुन्यो मैं अनाथानुसारी; बसै चित्त दण्डी जटी मुण्डधारी॥
तुम्हैं देव? दूषै हितू ताहि मानैं; उदासीन तो सों सदा ताहि जानैं।
महानिर्गुणी नाम ताको न लीजै; सदा दास मोपै कृपा क्यों न कीजै॥

—केशवदास

इससे चिकने-चुपड़े चापलूसों ने यह मतलब निकाला—

"रामचन्द्र कृतघ्नी हैं, अर्थात् कृत (कर्म) का नाश कर देते हैं, जन्म-मरण से मुक्त कर देते हैं। कुदाता हैं—'कु' अर्थात् पृथ्वी का दान करनेवाले हैं। 'कु'-कन्या—पृथ्वी की कन्या, सीता को, चाहते हैं। दिगंबर मुण्डी संन्यासियों के मित्र हैं। अनाथ—उन पर कोई नाथ या स्वामी नहीं है; अतः स्वतन्त्र हैं। अनाथानुसारी—असहाय के पीछे-पीछे चलनेवाले, अशरण शरण हैं। दंडी जटाधारी और मुण्डमाल पहनने वाले शिव के मन में वास करते हैं। हे देवि, तुम लक्ष्मी की जो अवहेलना करता है, उसे ही रामचन्द्र अच्छा संत कहते हैं। तुमसे जो निरपेक्ष है, वही उन्हें प्यारा है। वह महानिर्गुणी है—मायात्मक गुणों से रहित हैं। मैं सदा से तुम्हारा दास हूँ। मुझ पर कृपा करो, अर्थात् संसार से मुझे मुक्त कर दो।"

ऐसा अंटसंट अर्थ लगा देने पर आप रावण पर रीझ गये। चाटुकारी किसे अच्छी नहीं लगती? इन चापलूसों से पूछिये तो, भगवान् क्या कृतघ्न नहीं हैं? ब्रज में नन्द और यशोदा ने पलकों पर रक्खा, रात-दिन लाड़ लड़ाया पर अन्त में आपने उनका सारा किया-कराया मिट्टी में मिला दिया। सच है—

"कारो कृतहिं न मानै"।

'कुदाता' कहने में भी ग़रीब रावण ने क्या भूल की? क्या कभी आपने अपने भक्तों को कानी कौड़ी भी दी है। जितने देखे, लँगोटी लगाये रोटी के टुकड़ों के मोहताज हो पाये। पर वे बेचारे सन्तोषी होते हैं, किसी से रोना तो रोते नहीं फिरते, मन मार कर रह जाते हैं—

बारे तें फिरत बिललात द्वार द्वारे-हूँ,
मानत हौं चार फल चार ही चनक कों।

—तुलसीदास

'कुकन्या' के चाहने में भी आप की क्या निन्दा हो गयी? कुब्जा कहाँ की कुलीन महिला थी? उद्धव से एक गोपी ने क्या खूब कहा है—

पूतन की खानवारी कुबजा कुरुपवारी,
करी घरवारी, तऊ ब्रह्म तू कहत है !

पर आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि—

जैसोइ नन्द को पालक कान्ह सो तैसेइ कूबरी कंस की दासी !

कुब्जा ही क्यों, हम तो यहाँ तक कहती हैं, कि—

ऊद्धव, एक सँदेसो यही कहि देउ तो बात सयानी करौ।
कूबरी जो ठकुरानी करी सो भलें अपनी मनमानी करौ॥
पै कवि 'ग्वाल' मुनासिब औरहुँ सोऊ जरूर प्रमानी करौ।
लाँगरी लूलिन आँधरी कानिन रानिन में पटरानी करौ॥

अधिक न कहलाओ। दिल के गुबार दिल में ही रहने दो। अब तो तुम घूँघट काढ़ कर मुँह छिपा लो।

बुरा न मानना। घूँघट काढ़ना तुम्हारे लिए नई बात नहीं। तुमने कई बार साड़ी पहनी है। काजल लगाया है। घूँघट काढ़ा है। छद्मवेश में निकुंजेश्वरी राधिका की टहल भी की है। वेणी गूँथने में तो पूरे कुशल हो। अपने मुख से तुमने स्वयं अपनी प्रशंसा की है—

राधे !

बेनी गूंथि कहा कोउ जानै,
मेरी-सी तेरी सौं।
बिच-बिच फूल पीत, सित, राते,
को करि सकिहै रीसौं॥
बठे रसिक सँवारन बारन,
कोमल कर ककही सौं।
'श्री हरिदास' के स्वामी स्यामा,
नखसिख लौं बनाइ दै काजर नखही सौं॥

शृङ्गार करके हाथ में दर्पण लिया और राधिका से बोले—

तेरो मुख नीको कि मेरो, राधे प्यारी ?

इस पर राधिकाजी ने क्या ही मुँहतोड़ जवाब दिया—

हम का कहैं, तुमही किन देखो, मैं गोरी तुम स्याम विहारी।
हमरो बदन ज्यों चन्दा की उज्यारी, तुम्हरो बदन जिमि रैन अँध्यारी॥

अब तो न कभी पूछोगे ?

× × ×

नाथ! बहुत ढिठाई हुई। क्षमा करना। हमने नई बात एक भी नहीं कही। तुम्हारे भक्तों ही की कहानी दोहराई है। तुम्हीं ने तो उनको अपने सिर चढ़ा रखा है! अब टेढ़ी-मेढ़ी बातें भी सुनो। यह तुम्हीं ने कहा था न—

हम भक्तन के, भक्त हमारे।
सुन अरजुन परतिज्ञा मेरी, इहि व्रत टरत न टारे॥
भक्तै काज लाज हिय धरिकैं, पाइ पयादे धाऊँ।
जहँ-जहँ भीर परै भक्तन पै, तहँ-तहँ जाइ छुड़ाऊँ॥
जो मम भक्त सों वैर करत है, सो निज वैरी मेरो।
देखि विचारि भक्त-हित, पारथ! हाँकत हौं रथ तेरो॥
जीते जीत भक्त अपने की हारे हार विचारौं।
'सूरदास' सुनि भक्त-विरोधी चक्रसुदर्शन जारौं॥

बस, इस नाते को अन्त तक निभाना। हम लोग रूठ जायँगे तो तुम मना लोगे, पर, तुम्हें मनाना हमारे हाथ का नहीं। अब हम लोगों से व्यङ्ग-भरी बातें न सुनो—

प्रभु हो, कबलौं नाच नचैहो?
अपने जनके निलज तमासे, कबलौं जगहिं दिखैहो?

—हरिश्चन्द्र

समझ पड़ता है, तुम्हें भी दुनियादारी की हवा लग गयी है—

कबको ठाढ़ो दीन ह्वै, होत न कृष्ण सहाय।
तुमहूँ लागी जगतगुरु, जगनायक जग-बाय॥

—विहारी

इस पर कृष्ण कवि का सवैया—

हौं कबको रट लागि रह्यो गहि दीन स्वभाव मनै वच कायक।

दीन के बंधु कहावत हौ हरि काहे तें होत न आय सहायक ॥
काहे तैं ढील करौ करुनामय ! 'कृष्ण कहै प्रभु हौ सब लायक ।
जानि परी तुमहूँ कौं कछू अब प्यार लगी जग की जगनायक ॥

संसार हँस रहा है। कौतुक-प्रिय नास्तिक खड़े-खड़े तालियाँ पीट रहे हैं। इस पर भी कब तक चुप साधे बैठे रहें ?

कहाँ लौं रहिये साधे मौन ?
या अधीर मन कों या बिरियाँ धीर धरावै कौन ॥

हम लोग पामर जीव हैं। अब अधिक नहीं सहा जाता। कुछ का कुछ बक ही आता है। बकने-बकाने का अवसर ही क्यों देते हो ?

प्यारे, अब तौ सही न जात ।
कहा करैं कछु बनि नहिं आवत, निसिदिन जिय पछितात ॥
जैसे छोटे पिंजरा में कोउ, पंछी परि तड़पात ।
त्यों ही प्रान परे यह मेरे छूटन कों अकुलात ॥
कछु न उपाव चलत अति व्याकुल मुरि-मुरि पछरा खात ।
'हरीचन्द' खींचौ अब कोउ बिधि छाँड़ि पाँच औ सात ॥

हम तो एक तुम्हीं को जानते हैं—

किसी की पर्वा नहीं रही, सब से टूटा सब नाता है ॥
तुम्हीं हो सब कुछ, छोड़ कर तुम्हें कौन कहँ जाता है ।
बेवक़ूफ़ कोई इधर-उधर, फिरते मारे-मारे होंगे ।
किसी तरह से हम अब तुमसे न कभी न्यारे होंगे ॥

—प्रतापनारायण

अब और कुछ कहना व्यर्थ है। तुम्हें यदि अपने बाने की तनिक भी लाज है, तो हम मुँहलगे ढीठ जनों को जैसे बने तैसे अपनाओ—

मोहूँ दीजै मोप, जो अनेक पतितन दियौ ।
जो बाँधे हीं तोप, तौ बाँधौ अपने गुननि ॥

—बिहारी

साहित्यिक चन्द्रमा

चन्द्रमा पृथ्वी से कितनी दूरी पर है, उसकी क्या गति है, उसका क्षेत्र-फल कितना है, किससे प्रकाश पाता है आदि बातें जाननी हैं, तो ज्योतिर्विज्ञानिओं से पूछिए। वे सर्वज्ञ हैं! आकाश-पाताल एक कर रहे हैं! इतना ही नहीं, उनके हाथ में ईश्वर के अस्तित्व तक का भाग्य-निर्णय है!

हमें इन सब प्रश्नों से कोई प्रयोजन नहीं। आग जाने, लुहार जाने! हम तो उस चन्द्र की चर्चा चलाने बैठे हैं, जो साहित्य-संसार का शृङ्गार, संयोगियों का सुधा-सार, वियोगियों का विषागार, उपमाओं का भाण्डार एवं कल्पनाओं का आधार है। हमारे चन्द्रमा का जन्म समुद्र से हुआ है। वह कुमुद-कांत तथा रोहणी-रमण है। माता लक्ष्मी का सहोदर होने से हम लोग उसे 'चन्दा मामा' भी कहते हैं। साहित्य में—द्विजराज, सुधाकर, मृगलांछन आदि अनेक नामों से उसका उल्लेख आया है। वह भगवान भूतभावन की भाल-स्थली का भव्य भूषण है। विष्णु का मन है, और देवगुरु का प्रिय शिष्य। चन्द्रमा न होता, तो बेचारा कवि-कुल नायक-नायिका के मुख-मण्डल की तुलना किससे करता? भली-बुरी बातें किसे सुनाता? कुमुद और चकोर की प्रीति किसके साथ जोड़ता? यामिनी-कामिनी का पाणिग्रहण किससे कराता?

संस्कृत साहित्य में चन्द्रमा को लक्ष्य कर कवियों ने पृष्ठ के पृष्ठ रँग डाले हैं। श्रीहर्ष का चन्द्रोपालम्भ अपूर्व और अद्वितीय है। कालिदास और भवभूति ने भी इस विषय पर खूब लिखा है। काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण एवं रसगंगाधर प्रभृति रीति-ग्रन्थों में चन्द्र पर ऐसी-ऐसी साहित्यिक सरस सूझें मिलती हैं, जिन्हें पढ़कर हृदय मंत्रमुग्धवत् हो जाता है। वास्तव में, कवियों के लिये चन्द्रमा एक ऐसा आवश्यक अंग हो गया है, जिसके बिना संयोग वा वियोग शृङ्गार में वे चमत्कार ला ही नहीं सकते। इस पर जितनी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ मिलती हैं, कदाचित् ही उतनी किसी दूसरे विषय पर प्राप्य

हो। संस्कृत के एक सुकवि ने चन्द्रोत्प्रेक्षाओं की क्या ही अनोखी और चोखी माला गूँथी है—

लक्ष्मीक्रीड़ातड़ागो, रतिधवलगृहं, दर्पणो दिग्वधूनां,
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम्।
पिण्डीभूतं हरस्यस्मितममर-सरित् पुण्डरीकं, मृगांको,
ज्योत्स्नापीयुषवापी जयति सितवृषस्तारका गोकुलस्य॥

यह चन्द्रमा इन्दिरा का केलि-सरोवर है अथवा त्रिलोक-सुन्दरी रति का धवल धाम है? दिशारूपी ललनाओं के मुख देखने का स्वच्छ दर्पण या निशारूपी श्यामलता का श्वेत पुष्प तो नहीं है? संभव है, यह त्रिलोक-विजयी कामदेव का श्वेत छत्र या भगवान भूतनाथ का पिण्डीभूत अट्टहास हो। कहीं आकाश-गंगा में विकसित कमल न हो! हो न हो, कौमुदीरूपी सुधा-भरित वापिका है। हमें तो यह निश्चय होता है कि तारिकारूपी गौओं के बीच में यह एक सुन्दर सफ़ेद बैल है!

ख़ूब! एक-से-एक बढ़ कर उत्प्रेक्षाओं से काम लिया गया है। आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि की कल्पना-कला देखिए—

हंसो यथा राजत पञ्जरस्थः सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः।
वीरो यथा गर्वित कुञ्जरस्थश्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः॥

पींजड़े के भीतर जैसे हंस, मन्दराचल की कन्दरा में जैसे सिंह तथा मतवाले हाथी पर जैसे शूरवीर शोभायमान होता है, उसी प्रकार आकाश के बीच में चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है।

'सिंहो यथा मन्दर-कन्दरस्थः' की छाया पर गोसाईं तुलसीदास ने 'पूरबदिसि-गिरि-गुहा-निवासी' लिख कर 'यद्रामायणे विगदितं' यह अपना प्रवचन अक्षरशः सिद्ध किया है। मृगेन्द्र हो यह निश्चय है—

बारन मत्त विदार्यौ महातम देखि महाबल की अधिकाई।
अङ्क में मारि गह्यौ करसायल जानत लोग कलंक कराई॥
मानुष कैसे बचैं, मृग लोचनी कान्ह समीप बसैं तौ भलाई।
आवत ऊपर मन्दहि मन्द सो इन्द्र नहीं, ये मृगेन्द्र है भाई॥

कल्पना के आचार्य्य केशवदास ने भी चन्द्रमा का विलक्षण वर्णन किया है।—

फूलन की सुभ गेंद नई। सूँघि सची जनु डारि दई॥
दर्पन सो ससि श्री रति को। आसन काम महीपति को॥
मोतिनको श्रुति भूषन मयो। भूलि गई रवि की तिय मनो॥
अङ्गद को पितु सो सुनिये। सोहत तारहिं संग लिये॥
भूप मनोभव छत्र धर्‌यौ। लोक वियोगिन को विडर्‌यौ॥
देवनदी-जल, राम कह्यौ। मानहुँ फूलि सरोज रह्यौ॥
फेन किधौं नभ-सिंधु लसै। देवनदी-जल हंस बसै॥

उपर्युक्त कल्पनाओं में एक तो बड़ी ही अनूठी है। दिन भर की यात्रा समाप्त करके परिश्रान्त सूर्य संध्या-समय अपनी उत्कण्ठिता रमणी के यहाँ आ रहा है। पति का आगमन सुन उत्कण्ठिता कामिनी उस से मिलने को तुरन्त दौड़ आयी। शृंगार यथोचित नहीं कर पाया था। उतावली में उसका एक कर्णफूल छूट गया। यह चन्द्रा वही कर्णफूल है!

कभी चन्द्रमा मंदाकिनी का धवल कमल कहा जाता है, तो कभी आकाश-रूपी समुद्र का फेन। कहीं वह रति का दर्पण बनाया जाता है, तो कहीं कामदेव का राजछत्र। कल्पनाओं का कुछ ठिकाना! सुन्दर मुख के लिये तो सिवा चन्द्र के दूसरी उपमा ही नहीं। इस सब मान-प्रतिष्ठा से चन्द्रमा को बड़ा गर्व होगा। मन-ही-मन कहता होगा कि मेरे समान सुन्दर, सदाशय और सम्मान-पात्र कदाचित् ही कोई हो। पर, चन्द्रदेव! इस घमण्ड में भूले न रहना। जिन कवियों ने तुम्हें सातवें अर्श पर चढ़ा रखा है, वही तुम्हें फ़र्श पर गिराने को भी तैयार हैं। कवियों पर क्या विश्वास? ये साँप के बच्चे हैं। इनसे सदा बच-बच कर चलना चाहिए। इन लोगों ने जितनी तुम्हारी प्रशंसा नहीं की, उतनी निन्दा कर डाली है। सीता जी के मुख के तुम उपमान बनाये जाने को थे, पर विचारोपरांत यह निश्चय हुआ कि ऐसा करना तो महान् अनुचित है। उनकी मुख-श्री के आगे तो तुम कुछ भी नहीं। देखो न—

जनम सिंधु, पुनि बन्धु बिष, दिन मलीन, सकलंक।
सियमुख-समता पाव किमि, चंद्र बापुरो रंक?

इतना नहीं, तुम में और भी तो कई दोष हैं—

घटइ बढ़इ बिरहिन-दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई॥
कोक-सोकप्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही॥
वैदेही-मुख-पटतर दीन्हें। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हें॥

—तुलसी

तुम्हारे साथ उपमा देने के विचारमात्र से ही प्रायश्चित्त का भाग बनना पड़ेगा। तुम में सब से बड़ा ऐब तो यह है कि तुम विरही-जनों को अपनी शीतल किरणों से सदा जलाया करते हो। बड़े विरोध की बात है। कहीं शीतलता में भी दाहकता होती है? हाँ, होती है। न जाने, किसने तुम्हारा 'शीतकर' नाम रख दिया—

हौंही बौरी बिरह-बस, कै बौरो सब गाम।
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहि सीतकर नाम॥

—बिहारी

एक विरहिणी कहती है—विरह-वश मैं ही बावली हो गयी हूँ, या सारा गाँव बावला है? ये लोग क्या जानकर इस अङ्गार को 'शीतकर' कहते हैं?

तू बावली नहीं, गाँव वाले ही बावले हैं। यह शीतकर नहीं है। मूर्ख लोग ही इसे शीतकर कहते होंगे। फिर कौन है? ग्रीष्मर्तु का प्रचण्ड मार्तण्ड। अङ्गारों के समान अपनी विषम किरणों से समस्त संसार को भस्मसात् करता हुआ यह साक्षात् सूर्य उदय हो रहा है—

अंगार-प्रखरैः- करैः कवलयन्नेतन्महीमण्डलं
मार्तण्डोऽयमुदेति, केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः

—पण्डितराज जगन्नाथ

महाकवि दास भी इसे सूर्य ही सिद्ध कर रहे हैं—

याहि खराद्यौ खराद् चढ़ाय बिरञ्चि विचारि कछू मलिनाई।
चूर वहै बगर्‌यौ चहुँ ओर तरैयन की जु लसै छवि छाई॥
दास, न ये जुगुनू मग फैले वहै रज सी इतहूँ भरि आई।
धोखो न है किये घाम अनोखो ससी न, अली! यह है सवितांई॥

विषमयी चन्द्रिका की काली करतूत पर एक विरहिणी कहती है—

फैल-फैल गैलन नवीन विष फैल भरी
दीपन दुखित दुति पारद बरद की।
गरद करी हौं दिन दरद भरी हौं सखी,
सरद परी हौं लखि चाँदनी सरद की॥

और भी—

हरद समान तन भयौ है जरद अब,
करद-सी लागति है चाँदनी सरद की॥

वास्तव में, यह आग का एक बड़ा भारी धधकता हुआ गोला है। नहीं, इसे जलता हुआ भाड़ कहना चाहिए। वियोगियों को भूनने के लिये हत्यारे ब्रह्मा ने इसका निर्माण किया है।

कहीं यह ज़हरीला सफ़ेद साँप न हो। शेषनाग के वंश में सफ़ेद साँप होते ही हैं। संभव है, उसी वंश का यह भी हो। महाकवि गङ्ग ने तो इसे साँप ही साबित किया है

सेत सरीर हियेँ विष श्याम, कला फन शी मन जानि जुन्हाई।
जीभ मरीचि दसौं दिसि फैलति, काटत जाहि वियोगिनि ताई॥
सीस ते पूँछलौं गात गर्‌यौ, पै डसे बिनु ताहि परै न रहाई।
सेस के गोत के ऐसेहि होत हैं, चंद नहीं ये फनिन्द है, माई॥

मरते मरते भी दुष्टों की दुष्टता नहीं जाती। सिर से पूँछ तक सारा शरीर गलित हो गया है, फिर भी इस साँप को काटे विना कल नहीं पड़ता।

जैसे 'शीतकर' न होता हुआ यह प्रचंड मार्तण्ड है, और सुधाकर न होता हुआ विषाक्त सर्प है, वैसे ही यह द्विजराज भी नहीं है। यह तो कोई क्रूर कसाई है।

सिंधु कौ सुपूत पूत, सिंधु-तनया कौ बन्धु,
मन्दिर अमन्द सुभ सुंदर सुधाई के।
कहै 'पद्माकर' गिरीस के बसे हौ सीस,
तारन के ईस, कुल कारन कन्हाई के॥
हालही तू बिरह बिचारी ब्रजबाल ही पै,
ज्वाल से जगावत जुवाल सी जुन्हाई के।
एरे मतिमंद चंद! आवत न तोहिं लाज,
ह्वै कै द्विजराज काज करत कसाई के॥

इसमें संदेह नहीं कि इसकी किरणें तीक्ष्ण और विषैली हैं। पत्थर तक इन किरणों से पिघल कर मोम हो जाता है, फिर मनुष्यों का पूछना ही क्या! तिस पर, सुकुमारों की तो और भी मौत है।

रात्रिराज, सुकुमार शरीरः कः सहेत तव नाम मयूँखान्।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं चन्द्रकान्त दृशदोपि गलन्ति॥

—मङ्खक

यह तो निश्चय है कि चन्द्रमा का नाम सुधाकर नहीं। सुधाकर होता तो क्यों बेचारे वियोगियों की हत्या सिर पर लेता? अस्तु, चिन्ता की बात नहीं। ईश्वर बड़ा न्यायी है। जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल देता है। इस निर्दय चन्द्रमा की भी अक़्ल ठिकाने लगानेवाला उसने कोई पैदा कर दिया है और वह है वीर-वर राहु! राहु के आगे, चंद्र महोदय! तुम्हारी सारी आखेट कला फिस हो जाती है। ग्रहण की वेला तुम्हारी एक न चलती होगी। तुम्हें छठी के चावल याद आते होंगे। न जाने, राहु के कराल गाल से तुम कैसे जीवित निकल आते हो? राहु तुम्हें जान-बूझकर उगल देता होगा, क्योंकि तुम्हारी विष ज्वाला उससे सहन न होती होगी। अच्छा होता, यदि किसी-न-किसी तरह यह तुम्हें स्वाहा कर देता। पर, पापी चिरंजीवि होते हैं।

चन्द्रदेव!, तुमने लगभग सभी पाप किये हैं। न जाने, अन्त में तुम्हारी क्या दुर्गति हो। तुम्हारे कारण तुम्हारे बाप समुद्र की तो पूरी दुर्दशा

हो ही चुकी है। न तुम उसके कुपूत होते, न बेचारे को इतनी आफ़तें झेलनी पड़तीं—

ऐरे मतिमन्द चन्द ! धिग है आनन्द तेरो,
जो पै बिरहिनि जरि जात तेरे ताप तें।
तू तौ दोषाकर दूजे धरे है कलंक उर,
तीसरे कपालि सङ्ग देखौ सिर-छाप तें॥
कहै 'मतिराम' हाल जाहिर जहान तेरौ,
बारुनी कौ बासी, भासी रवि के प्रताप तें।
बाँध्यो गयौ, मथ्यौ गयौ, पियौ गयौ, खारो भयौ,
बापुरो समुद्र तो कुपूत ही के पाप तें।

रघुनाथजी ने बाँधा, देवों और राक्षसों ने अमृत-लाभ के लिये मथन किया, अगस्त्य ने आचमन कर डाला, और खारा है ही ! बेचारे बाप को तुम्हारे कुकर्मों का फल भोगना पड़ा।

कर्म करै कोउ और ही, और पाव फल-भोग।
अति विचित्र भगवन्त-गति, को जग जानइ जोग॥

—तुलसी

मृगलांछन ! पाप छिपाये छिपता नहीं, किसी-न-किसी दिन उजागर हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का तप्त रुधिर पान करके तुम कुछ मोटे नहीं हो गये। घटने-बढ़ने का असाध्य रोग भी तुम्हारा नहीं दूर हुआ। हाँ, मुँह बेशक काला हो गया। तुम्हारा यह कलुष-कलङ्क मरने पर भी न छूटेगा। गुरु-पत्नी-गमन क्या छोटा-मोटा पाप है ? मद्य-पान क्या वट्टे खाते ही जायगा ? वियोगियों को दग्ध करते रहना हँसी-खेल है ? अभी तो ज़रा-सी ही कारिख लगी है, कुछ दिनों में तो तुम्हारा सारा शरीर काला पड़ जायगा।

तुम्हारी कालिमा पर भी कवियों ने कई कल्पनाएँ की हैं। कोई इस कालिमा को चन्द्रमा के जन्म-स्थान समुद्र का पंक समझते हैं; कोई मृग मानते हैं, और इसी से चन्द्रमा को मृगलांछन कहते हैं। कोई उस पर पड़ी हुई पृथ्वी की छाया समझते हैं, और किसी के मत से वह अंधकार है जो सूर्य-

के भय से चन्द्रमा के क्रोड़ में शरणापन्न हो बैठ गया है ! गणितज्ञ कवि सेनापति को यह उक्ति सूझी है—

मेरे जान जेतिक सों सोभा होत जानि परी,
तेतिकै कलानि रजनी की छबि कीनी है ।
बढ़ती के राखे रैनिहू ते दिन ह्वै है यातें
आगरो मयंक तें कला निकारि लीनो है ॥

आलम यह कारण बतलाते हैं—

बिधु बह्म-कुलाल को चक्र कि जा मधि राजति कालिमा रेनु लगी ।
छलिकैं सुर भीर पियूष की कीच कि बाहन-पीठ की छाहँ लगी ॥
कवि 'आलम' रैनि संजोगिनि ह्वै पिय के सुख-संगम-रंग-पगी ।
गये लोचन बूढ़ि चकोरन के सो मनों पुतरीन की पाँति जगी ॥

"गये लोचन बूढ़ि चकोरन के, सो मनों पुतरीन की पाँति जगी" में क्या ही अनोखी सूझ है ! चकोरों ने देखते-देखते तुम्हारी सुन्दरता में अपनी आँखें डुबो दीं, तल्लीन कर दीं । यह कालिमा उन्हीं आँखों की पुतलियों की है—

चकोर की लगन अनुकरणीय है । बिना चकोर-चर्चा के चन्द्र-वर्णन अपूर्ण है । अहा !

चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चन्द-मयूख ।

—विहारी

चकोर अङ्गार की चिनगारियाँ क्यों चुगता है ? इसलिये कि आग खाकर मर जाऊँ, फिर ? भस्म हो जाऊँ, और वह भस्म शिव अपने मस्तक पर चढ़ाएँ । चन्द्रशेखर के ललाट पर प्यारे चन्द्रमा का वास है ही । बस, वहाँ उससे भेंट हो जायगी । आग चुगने का यही तात्पर्य है ।

चिनगी चुगत चकोर यों, भसम होइ यह अंग ।
लावैं सिव निज भाल पै, मिलै पीउ ससि-संग ॥

शब्दों के दूसरे साँचे में—

पिय सों मिलौं भभूत बनि, ससिसेखर के गात।
यहै बिचारि अँगार कों, चाहि चकोर चबात॥

चकोर-वल्लभ! तुम्हें भी चकोर का कुछ ध्यान है? न होगा, तुम बड़े कठोर हो। तुम्हारा हृदय निपट काला है।

ससि चकोर के दरद कौ जब तोहि असर न होय।
कुहूनिसा षोड़स कला तब तैं बैठत खोय॥

तुम्हारी कालिमा पर गोसाईं तुलसीदास ने भी कुछ सूक्तियाँ लिखी हैं। तुम्हारी श्यामता के सम्बन्ध में श्रीरामचन्द्रजी के पूछने पर सुग्रीव आदि मन्त्री उत्तर देते हैं—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि की छाईं॥
कारेहु राहु ससिहिँ कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥
कोउ कह, जब बिधि रति-मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परिछाहीं॥

मन्त्रियों से यथेष्ट उत्तर न पाकर प्रभु स्वयं बोले—

कह प्रभु, गरल बन्धु ससि केरा। अति प्रियतम उर दीन्ह बसेरा॥

भक्तवर हनुमान को इस उत्तर से भी संतोष न हुआ। आप की समझ में श्यामता का जो कारण आया है वह यह है—

कह हनुमन्त सुनहु, प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति तेहि उर बसत, सोइ स्यामता भास॥

बलिहारी! क्या ही अनूठी उक्ति है!

× × ×

अब तक तो यही सुनने में आया था कि चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से है, पर बेनी कवि इस सम्बन्ध की एक विचित्र ही बात बतला रहे हैं। उनकी राय में चन्द्रमा की उत्पत्ति यों हुई है—

राधे कों बनाय विधि धोयौ हाथ, जाम्यौ रंग,
ताको भयौ चंद, कर झारे भये तारे हैं।

जब ब्रह्मा राधिकाजी को बना चुका, तब हाथ धोकर चुपचाप बैठ

गया। समझ गया होगा कि अब इनसे अधिक सुन्दर कौन बन सकेगा। थोड़ी देर में उस चतुर चित्रकार ने हाथ धो डालें। हाथ धोने से जो रंग छूटा, उसका, जम जाने पर, चन्द्रमा बन गया और हाथ झाड़ देने से जो इधर-उधर बूँदें गिरीं, वही तारे हो गये। कदाचित् इसी कारण से परम भागवत शिव ने इसे अपने मस्तक पर धारण किया हो। नहीं, भगवान् भूतभावन की कृपा तो बंक मयंक पर है, पूर्ण मृगाङ्क पर नहीं। पद्मकोट के रसिक भ्रमर श्री धर ने इस बंक मयंक पर कई उत्तमोत्तम उत्प्रेक्षाएँ लिखी हैं। देखिए—

दिसि-भामिनि-भ्रू भंग, काल-कामिनि निहङ्ग असि।
कै जामिनि रही अधर बिम्ब सौं मन्द हँसिहँसि॥
मन्दाकिनि-तट पर्‌यो तृषित जल-हीन मीन कोइ।
तड़पि रह्यो तनछीन व्योमचर कै नवीन कोइ॥
वृत्र-विदारक इन्द्र-कुलिस की कुटिल नौंक तू।
निसि-बिरहिनि तब लगी मदन की किंधौं जौंक तू॥
निसा-योगिनी-भाल-भस्म कौ बाँकौ टीकौ।
कै माया-महिषी-किरीट-छाया सुश्रीकौ॥
कै सुमेरु सुचिवर्न स्वर्न, सागर को कौंड़ा।
कै सुर-कानन कदलि मूल को कोमल बौंड़ा॥
किधौं स्वर्ग फुलवारी के माली कौ हँसिया।
कै अमृत एकत्र करन की सेत अँकुसिया॥
रवि-हय-खुर की छाप किधौं, कै नाल नुकीली।
कालचक्र की हाल परी खंडित, कै कीली॥
नभ-आसन-आसीन कोइ कै तपोलीन ऋषि।
कै कछु जोति मलीन, कृसित सोइ कलाछीन ससि॥

सब ने वर्णन किया है सोलह कलावाले कलाधर का, पर पाठकजी ने दो ही कला वंक मयंक पर क़लम तोड़ दिया है।

मयङ्क! तुम सदा टेड़े रहते, तो राहु को तुम्हें ग्रसने का कभी साहस

ही न होता। कहा भी है—

टेढ़ जानि संका सब काहू।
बक्र चंद्रमहिं ग्रसइ न राहू॥

सदा एक-सी स्थिति में रहना चन्द्रमा के भाग्य में ही नहीं लिखा। पौष्टिक पदार्थों का सेवन करते-करते जैसे तैसे पूर्णिमा तक हृष्टपुष्ट हुए भी, तो फिर रोग ने आ घर दबाया। बीमारी बढ़ती ही गयी, यहाँ तक कि अमावस की रात काल-रात्रि हो गयी!

मर्ज़ बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की।

इस रोग को वैद्य-सम्राट् अश्विनी कुमार तक दूर नहीं कर सके, औरों की गिनती ही क्या? हाँ, एक उपाय से निःसन्देह यह क्षय रोग नष्ट हो सकता है। यदि वह वियोगियों का रक्त पीना छोड़ दे, तो रोग का नाम भी न रहे। कुपथ्य करने से कहीं औषध प्रभाव डाल सकती है? पर, वह अभागा पथ्या-पथ्य का विचार क्यों करने लगा!

जाको प्रभु दारुन दुख देहीं। ताकी मति पहलेहि हरि लेहीं॥

निशानाथ! अब भी चेत जाओ, नहीं तो तुम्हें कोई कानी कौड़ी पर भी न पूछेगा। हमने तो यहाँ तक सुना है कि तुम अपने पद से हटाये जाने-वाले हो। महाकवि बिहारी को अब तुम्हारी जरूरत नहीं। उन्हें एक ऐसी चन्द्रमुखी नायिका मिल गयी है, जो नित्य ही उन्हें पूर्णिमा की छटा दिखा देती है। पर्व की पूनो जानने के लिए पंचांग से काम ले लिया जाता है। अब, तुम किस काम के रहे?

पत्रा ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहुँपास॥
नितप्रति पून्यौ ही रहै, आनन-ओप-उजास।

कहो पदभ्रष्ट हुए न?

तुमने एक दिन भगवान् कृष्ण की अवज्ञा की थी। वह तुम्हें बुलाते ही रहे, पर तुमने गर्ववश सब अनसुना कर दिया! यदि तुम नीचे उतर कर यशोदानन्दन का मनोरंजन कर देते, तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाता? बाल-गोविन्द ने तुम्हें लाल-लाल खिलौना समझा था तुम्हारे साथ हँसते, नाचते,

कूदते, पर यह सुख, यह रस तुम्हारे भाग्य में कहाँ ? तुम्हें देख कर श्रीकृष्ण मचल गये और अपनी मैया से बोले—

मैया, यह मीठो कै खारो। देखत लगत मोहिं यह प्यारो॥
देहि मँगाय निकट मैं लैहौं। लागी भूख चन्द मैं खैहौं॥

शायद इसी से न उतरे होंगे, कि कहीं हठीले कृष्ण मुझे सचमुच ही न खा जायँ। भगवान् तुम्हें तो क्या खाते, तुम्हारे काल को अवश्य चबा जाते, तुम्हें अमर कर देते। यशोदा समझाने लगीं—

देखत रहौ खिलौना चन्दा। हठ नहिं कीजै बाल गोबिंदा।
मधु मेवा पकवान मिठाई। जो भावै सो लेहु कन्हाई॥

कन्हैया नहीं माने, रोते ही रहे। यशोदा ने एक थाली में पानी भर कर कृष्ण से कहा—

लेहु लाल यह चन्द मैं, लीनो निकट बुलाय।
रोवै इतनैं के लिये, तेरी स्याम बलाय॥

थाली में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देखकर बालकृष्ण कुछ शान्त हुए। पर जब पकड़ने से वह हाथ में न आया, तब फिर रोने लगे। फिर मचल गये—

लउँगो री मा, चन्दा लउँगो। वाहि आपने हाथ गहउँगो।
यह तौ झलमलात जल माहीं। मेरे कर में आवतु नाहीं॥

यशोदा बोलीं—

तुम तिहि पकरन चहत गुपाला। तातें ससि भजि गयो पताला॥
अब तुम तें ससि डरपत भारी। कहत, अहौं हरि सरन तुम्हारी॥

चन्द्रदेव ! यशोदा जी को धन्यवाद दो, जिन्होंने श्रीकृष्ण से तुम्हारी तरफ़ से इतनी अच्छी सिफ़ारिश कर दी। जाओ, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। अशरणशरण कृष्णचन्द्र तुम्हारा कल्याण करेंगे। क्या तुमने भगवान् का यह अभय वचन नहीं सुना

सर्वधर्मान्परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो; मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

बस, यही भक्तवत्सल भगवान् तुम्हें निष्कलंक कर सकेंगे, वही 'वैद्यो नारायणो हरिः' तुम्हारे सर्व रोगों का नाश करेंगे।

रँगीला भाव

इस दुरङ्गी दुनिया में, रँग-बिरंगे संसार में कौन ऐसा होगा जिस पर एक न-एक रँग न चढ़ा हो? किसी को कोई रँग लगा है, तो किसी को कोई। अपने-अपने रँग में सभी रँगे हैं। किसी का रँग हलका है, तो किसी का गहरा। ऐसा कोई न मिलेगा जिस पर किसी न किसी रँग की एकाध रेख न लगी हो। मिले कैसे, उस रँगीले राम की रचना ही रँगीली है। ज्ञानियों ने यों ही गाल बजा डाले हैं कि उनका ब्रह्म रूप-रँग-रहित है। पूछो तो यदि रङ्ग न होता, तो उसमें रस कहाँ से आता? ब्रह्म रसरूप है न? 'रसरूपो रसेश्वरः' जो रसरूप है, वह रङ्ग से रहित कैसे होगा? हरी-हरी लहलही लताएँ रसमयी हैं, हरे, पीले, लाल-फूल रसपूर्ण हैं। रङ्ग और रस का सदा से जोड़ा है। रङ्गीली आँखें ही रसीली होती हैं। अरुण अधर-पल्लवों से जो रस छलकता है, वह भी तो एक अनोखे रँग का निचोड़ है।

यह सृष्टि का रङ्ग है। सृष्टि का रङ्गीलापन तो कुछ पूछो ही नहीं। उसका रङ्ग अनोखा है, रस रसनातीत है। वेदान्ती हमारे रङ्गीले राम को निर्विकल्प कहें अथवा निरञ्जन, निराकार कहें वा निरवयव, हमें कोई आपत्ति नहीं। उनका मुँह है, चाहे जो कहें। किन्तु, हम उनकी हाँ में हाँ मिलाने को तैयार नहीं। हम तो उसे 'हरि' 'श्याम' 'लाल' तथा 'रङ्गीले' कहकर ही पुकारेंगे।

अहा! 'हरी' नाम में क्या ही मोहनी है! यह क्यों? सुनिए। कृष्ण भले ही मदनमोहन हों, पर 'हरे' नहीं हो सकते हैं। कबतक? जबतक होली के अवसर पर रङ्ग उलीचने वाली रङ्गीली-राधा उनकी ओर कृपा दृष्टि से न देखें। राधिका का वर्ण गौर है। आप आह्लादिनी शक्ति हैं। कृष्ण का वर्ण

श्याम है । ज़रा, राधाकृष्ण की एकरूपता का ध्यान तो कीजिये। कौन-सा रङ्ग है ? न गौर है न श्याम। हरी-हरी छटा छा रही है, रस उमड़ रहा है। रसिकाग्रगण्य नागरीदास सिद्धान्तरूप से कहते हैं—

जा में रस सोई हरो, यह जानत सब कोय।
गौर स्याम द्वै रङ्ग बिनु, हरो रङ्ग नहिं होय॥

बिहारी की रङ्गीली आँखों में 'गौर-श्याम' की कैसी छटा छा गई थी! नावक के तीर-जैसे दोहों से पूर्ण अपनी सतसई का मङ्गलाचरण उन्होंने इसी भाव को सामने रख कर किया है—

मेरी भव-बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाइं परत, स्यामहरित दुति होय॥

पर, श्रेय राधिकाजी को ही है। उनके गौरवर्ण की छायामात्र से श्याम हरे अर्थात् रसरूप हो जाते हैं। वेदान्तियों का नीरस निरञ्जन ब्रह्म रसिकों के सरस हरी में परिणत हो जाता है। धन्य वृषभानु-नन्दिनी!

× × ×

अब 'लाल' नाम को लीजिये। अनुराग का अर्थ अवगत कर लेने पर लाल का लावण्य स्वयं ही समझ में आ जायगा। राग-विराग सभी अनुराग के आगे नीरस जँचते हैं। अनुराग का रङ्ग लाल है। अपनी जाति किसे नहीं भाती ? वर्ण-वर्ण का जोड़ा है। रजोगुण का भी यही रङ्ग है। काले-कलूटे तामसिक मन को पहले रजोगुणी अर्थात् अनुरागी बनाना होगा, तब कहीं वह सतोगुणी अर्थात् उज्ज्वल हो सकेगा। यह न समझ लीजियेगा कि अनुरागी जीव रजोगुणी ही होता है, अतएव भोग-विलासी। नहीं, रजोगुण भी कई प्रकार का है। रागी-अनुरागी में पृथ्वी-आकाश का अन्तर है। 'लाल' का अनुरागी सांसारिक रागियों से बहुत आगे निकल जाता है। वह काम और काञ्चन को ठुकरा देता है। हीरों और लालों पर उसकी नजर नहीं जाती। वह तो उस लाल के लिए लालायित रहा करता है, जिसे पाकर फिर और लालों का लोभ नहीं रहता, जिसके रङ्ग में रँग कर वह स्वयं लाल हो जाता है—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल॥

—कबीर

पर, वह लाली दुनियादारों की आँखों में नहीं समाती। वे उसे देख ही नहीं सकते। या वह उन्हें दिखायी नहीं पड़ती। भला मेंहदी की लाली कहीं देख पड़ती है?

प्रेम-रंग दीसत नहीं, 'व्यास' न भाव लखाय।
जैसे मेहँदी-पात में, लाली लखी न जाय॥

—व्यास

लाल-रंग में विभोर प्रेमी अपने प्यारे श्यामसुन्दर पर न्यौछावर हो कहता है—

"प्यारे, मैं तुम्हें लाल क्यों कहता हूँ? तुम तो श्याम हो न! सुना है, अपने जनों की कलुष-कालिम धोते-धोते 'श्याम एवं उनका दुःख हरने से तुम 'हरे' अर्थात् प्रफुल्लित हुए हो। ठीक है, मैं न तो अपनी कलुष-कालिमा ही धुलाना चाहता हूँ और न कोई दुःख ही हरने को कहता हूँ, मैं तो केवल तुम से प्रेम करना चाहता हूँ, तुम्हें केवल अनुराग के रङ्ग में रँगा देखना चाहता हूँ—इसीसे मैं तुम्हें लाल कहता हूँ।"

× × ×

अब, घनश्याम की श्यामता पर विचार करें। इस वर्ण में अनेक शुभ्रकान्त माहात्मा अपना शरीर रँगने को लालायित रहते हैं।

कहना तो यह चाहिए कि बिना श्याम रङ्ग में रँगे कोई शुभ्र हो ही नहीं सकता। श्यामसुन्दर के ध्यान से ही चित्त की तामसिक श्यामता, कलुष-कालिमा, दूर हो सकती है। तमोगुण काला है, तो हमारे कृष्ण भी काले हैं। काला मन काले रङ्ग में डुबोने से ही सफ़ेद होगा। बात तो बड़े विरोध की है पर शङ्का के लिए स्थान नहीं—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों डूबै स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय॥

—बिहारी

अनुरागी चित्त की गति समझ लेनी ही तो टेढ़ी खीर है। बिना अनुराग के इस विरोध-भरी बात को कोई क्या समझेगा? वैज्ञानिकों को प्रयोग के अनुसार भले ही इस वर्ण-परिवर्तन में सन्देह हो, किन्तु हमारे 'अनुराग-रसायन' में सन्देह के लिए तिलमात्र भी स्थान नहीं। यहाँ अनुमान की आवश्यकता ही नहीं। श्याम-रङ्ग में मलिन मनंडुवा देखिए, उज्ज्वल होता है या नहीं?

श्याम-छटा रसिकों के रँगीले नेत्रों में खूब छा गयी है। कोई इस साँवली छटा पर घन घटा की उपमा बिठाता है, तो कोई कहता हुआ

'तरू तमाल पल्लव लौं सोहत अंग-अंग नव रूप'

सौन्दर्य-सागर में डूब जाता है। कोई नीलोत्पल-दल-श्याम की आभा देखता है, तो कोई इस रूपक को बाँधने लगता है, कि—

'राधे सोने की अँगूठी, स्याम नीलम नगीना है।'

श्यामसुन्दर! यह रंग कहाँ पाया, कैसे मिला? कुछ कहो तो। न बोलोगे? बड़े घमंडी हो! क्यों बोलने चले? न बोलो। सुना है भादों की काली अँधेरी रात में जन्म लेने से तुम्हारा रँग काला हुआ है। किसी-किसी के मत से तुम्हारे शरीर पर कालिय नाग के विषैले फूत्कार से श्यामता आ गई है। पर हमें यह सब कारण ठीक नहीं जँचते। हमें श्रीनागरीदास के द्वारा तुम्हारी श्यामता का जो रहस्योद्घाटन हुआ है, वही प्रामाणिक प्रतीत होता है—

कजरारी अँखियन में, बस्यौ रहै दिनरात।
प्रीतम प्यारो है, सखो! यातें साँवल गात॥

—नागरीदास

महाकवि देव भी इसका पुष्टी करण करते हैं:—

साँवरे लाल को साँवरो रूप में नैनन को कजरा करि राख्यौ॥

चोर अपने को कितना ही छिपाये छिप नहीं सकता। कज्जलकलित

ललित लोचनों में चले थे छिपने ! वह कज्जल छूटकर तुम्हारे ही अङ्ग-अङ्ग में लग गया । बलिहारी इस चातुर्य पर ! काले-कलूटे बन बैठे ! छिपना ही था; तो हमारी मानस की काली अँधेरी कोठरी में क्यों न छिप गये ? जहाँ किसी को ज़रा भी पता न चलता ।

क्षीरसारमपहृत्य शंकया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया ।
मानसे मम नितान्ततामसे नन्दनन्दन ! कथं न लीयसे ?

इसका छायानुवाद—

ए ब्रजचन्द गुबिंद गुपाल ! सुनौ किन केते कलाम किये मैं ।
त्यों 'पद्माकर' आँनद के नद हौ नंदनन्दन जानि लिये मैं ॥
माखन चोरिकैं खोरिन ह्वै चले भागि कछू भय मानि जिये मैं ।
दूरिहु दौरि दुर्यौ जु जहौ तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं ॥

अब तुम्हारे इस काले रूप पर कोई विश्वास भी न करेगा । तो पहले ही तुम्हारे साँवले रंग का तुम्हें प्रमाण-पत्र दे चुकी हैं—

सखीरी, स्याम सबै इकसार ।
मीठे वचन सुहाये बोलत, अन्तर जारनहार ॥
भँवर कुरंग काम अरु कोकिल कपटिन की चटसार ॥

एक ओर आप और एक ओर राधिका, बीच में साँवले कृष्ण। राधिका को यह देख कर रहा न गया। बोलीं—'यह कभी नहीं हो सकता। काले कृष्ण को मेरे पास मत सुला। इनके रँग से मैं भी काली हो जाऊँगी।' धाय ने हँस कर कहा—"राधे, क्या तू पगली हो गयी है? तुझे यह किसने सिखाया है? सुना नहीं, सोने का रङ्ग कसौटी पर चढ़ जाता है, कसौटी का सोने पर नहीं। तू काँचन है, कृष्ण कसौटी हैं।" कवि के शब्दों में सुनिये—

राधिका माधवै एक ही सेज पै धाय लै सोई सुभाय सलौने ॥
पारै 'महाकवि'*कान्ह को मध्य में, राधे कह्यो—"यह बात न हौने ॥
साँवरी होऊँगी साँवरे सङ्ग मैं" "बावरी तोहि सिखायौ है कौने ?
सोने कौ रङ्ग कसौटी लगै, पै कसौटी कौ रङ्ग लगै नहि सोने।"

—महाकवि*

क्या अनूठी उक्ति है! राधिका अपने दर्पणवात् विमल गौरांग पर श्याम रङ्ग नहीं चढ़ाना चाहतीं। क्या सचमुच ही वह श्यामवर्ण से पृथक् रहना चाहती हैं? नहीं, यह केवल वाक्-पाटव है। अंतर्पट तो उनका भी श्यामवर्ण से अछूता नहीं। कभी-कभी तो आप 'गौरी' कहने पर चिढ़ती भी हैं—

गोरी देह देखि कोऊ गोरी न कहौ जू मोहिं,
हौं तौ सराबोर श्यामरङ्ग ही में बोरी हौं।

राधिका को सर्वत्र श्यामता-ही-श्यामता दृष्टिगत होती है। गौरता की ओर तो वे देखना भी नहीं चाहतीं—

काननि दूसरों नाम सुनै नहिं, एकहिं रङ्ग रँग्यौ यह डोरो।
धोखेहुँ दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख काढ़ि हलाहल बोरो ॥
'ठाकुर' चित्त की वृत्ति यही हम कैसेहु टेक तजैं नहिं भोरो।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जे साँवरो छाँड़ि निहारतीं गोरो ॥

भीतर बाहर श्यामता-ही-श्यामता देखनी सहज नहीं। जब तक आत्यं-

---

*संभवतः महाकवि से तात्पर्य सेनापति से है।

तक विरह से शरीर पीला नहीं पड़ा, तब तक श्यामता कहाँ ? 'गुलदस्तये बिहारी' के माली 'प्रीतम' आह भरते हुए कहते हैं—

रंग पीले पड़ गये जिनके लिए,
वह हरी आये न दो दिन के लिये !

सुकवि गोकुल भी श्याम-मिलन के प्रथम 'पीतवर्ण' का शरीर पर चढ़ना अनिवार्य समझते हैं—

जा दिन तें मथुरा कों चले हरि तादिन तें पियरी परी जाति है।

रंग पीला पड़ जाता है। आँखें धुँधली हो जाती हैं। सुख में दुःख दिखाई देता है। नयी-नयी कल्पनाएँ उठने लगती हैं। कुछ-का-कुछ देख पड़ता है। वसन्त में मुकुलित पलास-पुष्पों पर विरही की कलित कल्पना सुनिए—

स्याम सोन दुति फूलि की, फूले बहुत पलास।
जरै काम-कैला मनो, मधु रितु बात-बिकास ॥

—केशव

जलने-जलाने की बात छोड़ो। कहाँ रस-रङ्ग का प्रसंग था, कहाँ जलना-बलना बीच में मूसल-सा आ कूदा। विरह का रङ्ग ही ऐसा है। इसमें बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। कुछ का कुछ कह आता है। भ्रम हो ही जाता है। एक विरही के भ्रम को सुनिए—

बिरह-जरी लखि जीगननि, कह्यो सु उहि कै बार।
अरी, आव भजि भीतरी, बरसत आजु अँगार ॥

—बिहारी

× × ×

विरह के रङ्ग का मज़ा लूटा तो विरही कबीर ने।

अनेक जन्म की कलुष-कालिमा छूट जाने पर आप प्रफुल्लित हो कैसी रँगीली तान छेड़ रहे हैं !

सतगुरु है रँगरेज चुनर मेरी रँगि डारी।
स्याही रंग छुड़ाय कै रे, दियो मजीठा रंग ॥

एक ओर आप और एक ओर राधिका, बीच में साँवले कृष्ण। राधिका को यह देख कर रहा न गया। बोलीं—'यह कभी नहीं हो सकता। काले कृष्ण को मेरे पास मत सुला। इनके रँग से मैं भी काली हो जाऊँगी।' धाय ने हँस कर कहा—"राधे, क्या तू पगली हो गयी है? तुझे यह किसने सिखाया है? सुना नहीं, सोने का रङ्ग कसौटी पर चढ़ जाता है, कसौटी का सोने पर नहीं। तू काँचन है, कृष्ण कसौटी हैं।" कवि के शब्दों में सुनिये—

राधिका माधवै एक ही सेज पै धाय लै सोई सुभाय सलौने ॥
पारे 'महाकवि'*कान्ह को मध्य में, राधे कह्यो—"यह बात न हौने ॥
साँवरी होऊँगी साँवरे सङ्ग मैं" "बावरी तोहि सिखायौ है कौने?
सोने कौ रङ्ग कसौटी लगै, पै कसौटी कौ रङ्ग लगै नहिं सोने।"
—महाकवि*

क्या अनूठी उक्ति है! राधिका अपने दर्पणवात् विमल गौरांग पर श्याम रङ्ग नहीं चढ़ाना चाहतीं। क्या सचमुच ही वह श्यामवर्ण से पृथक् रहना चाहती हैं? नहीं, यह केवल वाक्-पाटव है। अंतर्पट तो उनका भी श्यामवर्ण से अछूता नहीं। कभी-कभी तो आप 'गौरी' कहने पर चिढ़ती भी हैं—

गोरी देह देखि कोऊ गोरी न कहौ जू मोहिं,
हौं तौ सराबोर श्यामरङ्ग ही में बोरी हौं।

राधिका को सर्वत्र श्यामता-ही-श्यामता दृष्टिगत होती है। गौरता की ओर तो वे देखना भी नहीं चाहतीं—

काननि दूसरों नाम सुनै नहिं, एकहिं रङ्ग रँग्यौ यह डोरो।
धोखेहुँ दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख काढ़ि हलाहल बोरो ॥
'ठाकुर' चित्त की वृत्ति यही हम कैसेहु टेक तजैं नहिं भोरो।
बावरी वै अँखियाँ जरि जायँ जे साँवरों छाँड़ि निहारतीं गोरो ॥

भीतर बाहर श्यामता-ही-श्यामता देखनी सहज नहीं। जब तक आत्य-

---

*संभवतः महाकवि से तात्पर्य सेनापति से है।

तिक विरह से शरीर पीला नहीं पड़ा, तब तक श्यामता कहाँ ? 'गुलदस्तये बिहारी' के माली 'प्रीतम' आह भरते हुए कहते हैं—

रंग पीले पड़ गये जिनके लिए,
वह हरो आये न दो दिन के लिये !

सुकवि गोकुल भी श्याम-मिलन के प्रथम 'पीतवर्ण' का शरीर पर चढ़ना अनिवार्य समझते हैं—

जा दिन तें मथुरा कों चले हरि तादिन तें पियरी परी जाति है।

रंग पीला पड़ जाता है। आँखें धुँधली हो जाती हैं। सुख में दुःख दिखाई देता है। नयी-नयी कल्पनाएँ उठने लगती हैं। कुछ-का-कुछ देख पड़ता है। वसन्त में मुकुलित पलास-पुष्पों पर विरही की कलित कल्पना सुनिए—

स्याम सोन दुति फूलि की, फूले बहुत पलास।
जरै काम-कैला मनो, मधु रितु बात-बिकास॥

—केशव

जलने-जलाने की बात छोड़ो। कहाँ रस-रङ्ग का प्रसंग था, कहाँ जलना-बलना बीच में मूसल-सा आ कूदा। विरह का रङ्ग ही ऐसा है। इसमें बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। कुछ का कुछ कह आता है। भ्रम हो ही जाता है। एक विरही के भ्रम को सुनिए—

विरह-जरी लखि जीगननि, कह्यौ सु उहि कै बार।
अरी, आव भजि भीतरी, बरसत आजु अँगार॥

—बिहारी

× × ×

विरह के रङ्ग का मज़ा लूटा तो विरही कबीर ने।

अनेक जन्म की कलुष-कालिमा छूट जाने पर आप प्रफुल्लित हो कैसी रँगीली तान छेड़ रहे हैं!

सतगुरु है रँगरेज चुनर मेरी रँगि डारी।
स्याही रंग छुड़ाय के रे, दियो मजीठा रंग॥

एक ओर आप और एक ओर राधिका, बीच में साँवले कृष्ण। राधिका को यह देख कर रहा न गया। बोलीं—'यह कभी नहीं हो सकता। काले कृष्ण को मेरे पास मत सुला। इनके रँग से मैं भी काली हो जाऊँगी।' धाय ने हँस कर कहा—"राधे, क्या तू पगली हो गयी है? तुझे यह किसने सिखाया है? सुना नहीं, सोने का रङ्ग कसौटी पर चढ़ जाता है, कसौटी का सोने पर नहीं। तू काँचन है, कृष्ण कसौटी हैं।" कवि के शब्दों में सुनिये—

राधिका माधवै एक ही सेज पै धाय लै सोई सुभाय सलौने॥
पारै 'महाकवि'*कान्ह को मध्य में, राधे कह्यो—"यह बात न हौने॥
साँवरी होउँगी साँवरे सङ्ग मैं" "बावरी तोहि सिखायौ है कौने?
सोने कौ रङ्ग कसौटी लगै, पै कसौटी कौ रङ्ग लगै नहिं सोने।"

—महाकवि*

क्या अनूठी उक्ति है! राधिका अपने दर्पणवात् विमल गौरांग पर श्याम रङ्ग नहीं चढ़ाना चाहतीं। क्या सचमुच ही वह श्यामवर्ण से पृथक् रहना चाहती हैं? नहीं, यह केवल वाक्-पाटव है। अंतर्पट तो उनका भी श्यामवर्ण से अछूता नहीं। कभी-कभी तो आप 'गौरी' कहने पर चिढ़ती भी हैं—

गोरी देह देखि कोऊ गोरी न कहौ जू मोहिं,
हौं तौ सराबोर श्यामरङ्ग ही मैं बोरी हौं।

राधिका को सर्वत्र श्यामता-ही-श्यामता दृष्टिगत होती है। गौरता की ओर तो वे देखना भी नहीं चाहतीं—

काननि दूसरो नाम सुनै नहिं, एकहिं रङ्ग रँग्यौ यह डोरो।
धोखेहुँ दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख काढ़ि हलाहल बोरो॥
'ठाकुर' चित्त की वृत्ति यही हम कैसेहु टेक तजैं नहिं भोरो।
बावरी वै अँखियाँ जरि जायँ जे साँवरो छाँड़ि निहारतीं गोरो॥

भीतर बाहर श्यामता-ही-श्यामता देखनी सहज नहीं। जब तक आत्यं-

*संभवतः महाकवि से तात्पर्य सेनापति से है।

तिक विरह से शरीर पीला नहीं पड़ा, तब तक श्यामता कहाँ ? 'गुलदस्तये विहारी' के माली 'प्रीतम' आह भरते हुए कहते हैं—

रंग पीले पड़ गये जिनके लिए,
वह हरो आये न दो दिन के लिये !

सुकवि गोकुल भी श्याम-मिलन के प्रथम 'पीतवर्ण' का शरीर पर चढ़ना अनिवार्य समझते हैं—

जा दिन तें मथुरा कों चले हरि तादिन तें पियरी परी जाति है।

रंग पीला पड़ जाता है। आँखें धुँधली हो जाती हैं। सुख में दुःख दिखाई देता है। नयी-नयी कल्पनाएँ उठने लगती हैं। कुछ-का-कुछ देख पड़ता है। वसन्त में मुकुलित पलास-पुष्पों पर विरही की कलित कल्पना सुनिए—

स्याम सोन दुति फूलि की, फूले बहुत पलास।
जरै काम-कैला मनो, मधु रितु वात-विकास॥

—केशव

जलने-जलाने की बात छोड़ो। कहाँ रस-रङ्ग का प्रसंग था, कहाँ जलना-बलना बीच में मूसल-सा आ कूदा। विरह का रङ्ग ही ऐसा है। इसमें बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। कुछ का कुछ कह आता है। भ्रम हो ही जाता है। एक विरही के भ्रम को सुनिए—

विरह-जरी लखि जीगननि, कह्यो सु उहि कै बार।
अरी, आव भजि भीतरी, बरसत आजु अँगार॥

—विहारी

× × ×

विरह के रङ्ग का मज़ा लूटा तो विरही कबीर ने।

अनेक जन्म की कलुष-कालिमा छूट जाने पर आप प्रफुल्लित हो कैसी रँगीली तान छेड़ रहे हैं!

सतगुरु हैं रँगरेज चुनर मेरी रँगि डारी।
स्याही रंग छुड़ाय कै रे, दियो मजीठा रंग॥

धोये से छूटै नहीं रे, दिन-दिन होत सुरंग।
भाव के कुण्ड नेह के जल में, प्रेम-रंग दई बोर॥
चसकी चास लगाई कै रे, खूब रंगी झकझोर।
कहै कबीर रंगरेज गुरू रे, मुझपर भये दयाल॥
सीतल चुनरी ओढ़िके रे; भई हौं मगन निहाल।

धन्य है वह महाभाग; जिसके तन पर यह 'शीतल चुनरी पड़ी रहती है!

लाल, पीला, काला, नीला, सभी रङ्ग आ चुके। एक-एक पृथक्-पृथक् वर्णन भी हो चुका। अब देखें, इन्हें मिला देने से कौन-सा रङ्ग बनता है। रङ्गीले विहारी साहित्य-संसार में प्रसिद्ध रङ्गरेज़ थे। उन्होंने कई रँगों को मिला कर 'इन्द्र-धनुष' की छटा देखी थी। निराली छटा थी। आप भी देखिये—

अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र-धनुष रँग होति।

धन्य है उन रसिक रँगीले प्रेमोन्मत्त हरिभक्तों को, जिनके हृदयरूपी नभोमंडल में सदा ही यह इन्द्र-धनुष उदित रहता है।

आँख और हिन्दी-कवि

भला, देखिये तो, बूढ़े ब्रह्मा से कितनी भारी भूल हुई है! आँख को धर गिनाया है इन्द्रियों में! यदि रूखे-सूखे वेदान्ती इन्द्रियों की भरपेट निन्दा न कर डालते, तो आँख को भी इन्द्रियों का सजातीय मानने में हमारी आँख नीची न पड़ती। क्या नेत्रानन्द इन्द्रिय-परायणता की कोटि में आ सकता है? कदापि नहीं। इन्द्रियाँ भली हों या बुरी, यह सब जाने वेदान्ती। हमें तो अपनी आँख इन्द्रियों से परे माननी है। रसना के रसों में वह रस कहाँ जो 'अमी-हलाहल-मदभरे, सेत, स्याम रतनार' में है। कान वेचारे यही मनाया करते हैं कि उन नुकीली आँखों की पैनी अनी किसी-न-किसी

तरह हमारे हृदय में चुभा करे। नाक का तो कुछ कहना ही नहीं। यह भी मान लिया जाय कि 'नाक' स्वर्ग को कहते हैं, तब भी क्या हुआ, "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" पुण्यक्षय होने पर नाक से मर्त्यलोक और मर्त्य-लोक से नरक वा स्वर्ग-प्राप्ति की परम्परा अवाधित है। नाक से ऊपर आँख ही है। आँख में समाया कि फिर लौटने का नहीं। एकदम मुक्त। त्वचा का भी इसी प्रकार बचा-खुचा अनुभव-ज्ञान समझना चाहिए। बिना आँख वाले ही इधर-उधर टटोलते फिरते हैं। अब आयीं आँख महारानी। दासी इन्द्रियाँ इनकी टहल किया करती हैं। मन-महीप की पट्टरानी यही हैं। अनुराग का यहाँ सदा सुहाग भरा-पूरा रहता है। लाज का लहँगा और शील की साड़ी करुणा की कंचुकी के साथ ऐसी दिप रही है कि जैसी कुछ चाहिए। कल्पना की कुञ्ज में आप क्रीड़ा किया करती हैं। मान की मीठी मिठाई चख क अपना 'चख' नाम सार्थक करती हैं। रसनिधि ने 'चख' नामक सूत्र पर कै भव्य भाष्य किया है—

और रसन लै जानही रसना हूँ अभिराम।
चाखति जो ये रूप-रस यातें है चख नाम॥

अन्य रसों का आस्वादन करना तो रसना भी जानती है, पर र केवल आँखें ही चखती हैं। इसीसे इनका नाम 'चख' रखा गया है। र सिंहासन पर आसीन हो ऐसा शासन करती हैं कि बड़े-बड़े वीर और भी हथकड़ियों से बँधे हुए सामने हाज़िर हो जाते हैं। धन्य! आँख म धन्य!!

आँख की महिमा किसने समझी? ज्ञानियों ने? नहीं, उन तो ज्ञानचक्षु हैं। खरिया, खरी, कपूर एवं श्वान, गाय, भैंस, गधे, बराबर हैं। गीता में लिखा है—

विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताःसमदर्शिनः॥

फिर पदार्थ-विज्ञानियों ने? उनकी आँख तो परख में लगाया करती है। चमत्कारों में चकृत रहती है। तब यो

सोचा ! त्राटक के फाटक तक तो उनकी आँख की पहुँच ही है। या ज़्यादा-तर क़ैदी की तरह बन्द रहती है। कहते हैं, हमें समाधि में ज्योति के दर्शन होते हैं। राम जाने, क्या होता है ! न सही, विद्वान् तो अवश्य ही नेत्रानन्द-रस के अधिकारी होंगे। स्वप्न में भी नहीं, पोथी पत्रे उलटते-पुलटते पूरे काठ के उल्लू बन जाते हैं। बिना कहीं लिखी हुई बात मानते ही नहीं ! आँख की क़द्र पठित मूर्ख क्या जाने ? और विद्यार्थी ? नाम न लीजिये, यदि ये रट्टू टट्टू न होते तो आँख के खुदाई नूर को ख़राब करने वाले चश्में इतनी कस-रत से बाज़ार में न दिखायी देते। ये सब आँख के पारखी नहीं। इन लोगों के पास वह आँख नहीं, वह चितवन नहीं, जिसमें कुछ पानी हो, कुछ लोच हो।

वा चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।

अजान तो आँख के ज़रा से ही इशारे से वशीभूत हो जाते हैं, पर सुजान का वश में कर लेना टेढ़ी खीर है वे आँखें ही कुछ और हैं। कैसी होती हैं। क्या देखने में सब के जैसी नहीं होतीं ? उन आँखों की ख़ूबी रसिक कवि ही अङ्कित कर सकता है। ठाकुर कहते हैं :—

डीलदार, सीलदार, लाज को अहार जिन्हैं,
तीछन मृगा से देखि-देखि रहियतु हैं।
मीन और खंजन लौं अलसे अनोखे देखे,
कंजदल हू तें ए बिसेष चहियतु हैं॥
ललित ललौहैं, कसकौहैं, चसकौहैं जानि,
'ठाकुर' कहत सुख पाइ रहियतु हैं।
औरन के नैन कहाँ नैनन के लेखे आवें ?
ऐसे नैन होयँ तब नैन कहियतु हैं॥

ऐसे नैन हों, तो नैन हैं, नहीं तो नहीं। सबसे पहले डीलदार होने चाहियें। तारीफ़ बड़ी आँखों ही की है। बड़े की बात बड़े ही जान सकते हैं। छोटे मुँह बड़ी बात कहीं बनी है ? जब उनकी नोक कानों को छूती रहे, तभी उन्हें डीलदार कहना उचित है। कानों से छूने में क्या रहस्य है, सुनिये—

देखि री ! देखि या ग्वालि गँवारि की नैकु नहीं थिरता गहती हैं ।
आनँद सों 'रघुनाथ' पगीं रँगी रंगन सों फिरती रहती हैं ॥
छोर सों छोर रर्‌यौना के छ्वै करि ऐसी बड़ी छवि कों लहतीं हैं ।
जोवन आइवे की महिमा अँखियाँ मनों कानन सो कहतीं हैं ॥

अजान कानों को यौवन के आने की ख़बर ही क्या थी, अगर आँखें चार क़दम आगे बढ़ कर उनको यह शुभ संवाद न सुना देतीं ! कानों को आँखों का एहसानमन्द होना चाहिये, नहीं तो क़ाफ़ी खिंचाई होगी ।

शीलदार और लाजभरी आँख लाख में एक की होती है । इस बेहयाई के ज़माने में कौन किसे समझता है ? जब डीलदार हों, तभी शीलदार भी हों । बड़ों में ही लाज होती है । शील-सङ्कोच का महत्व क्षुद्र क्या समझें ? जो हृदय के बड़े हैं, गहरे हैं, उनको ही जाति-अभिमान होता है । जाति की उन्नति से वे फूले नहीं समाते । कविवर रहीम ने कहा है—

सबही कों सुख होत है, निरखि आपनो गोत ।
ज्यों बड़री अँखियानि लखि, आँखिन कों सुख होत ॥

बड़ी आँखों में कितना बल होता है, नीचे के दोहे से प्रकट हो जायगा—

तीन पैंड जाके लखौ त्रिभुवन में न समाहिं ।
धनि राधे ! राखति तिन्हें लोयन-कोयन माहिं ॥

जिस वामन-रूप-धारी विष्णु के तीन पैंड तीन लोक में नहीं समाते, उसे, राधे ! तू अपनी आँख के एक कोने में क़ैद किये बैठी है ! इसी आशय का सुकवि भिखारी का सवैया—

होत मृगादिक तें बड़े बारन, बारन केते पहारन हेरे ।
सिंधु में केते पहार परे, धरती में किते परे सिंधु घनेरे ॥
लोकन में धरती कितनी, हरि उद्र में केते हैं लोक बसेरे ।
ते हरि 'दास' बसे इनमें सब चाहि बड़े दृग राधिका तेरे ॥

बड़ों को ठगना भी हँसी-खेल नहीं । बड़ी आँखों में धूल डालना बड़ा कठिन है । एक दिन श्रीकृष्ण राधिकाजी के साथ आँखमिचौनी खेल रहे थे ।

राधिका जी की आँखें ऐसी-वैसी आँखें न थीं, कानों से बात करनेवाली थीं! कृष्ण के कर कमलों में उनका बन्द हो जाना सहज न था। लाचार हो, खेल में कृष्ण को हार माननी पड़ी, और बोले—

कानन लौं अँखियाँ हैं तिहारी, हथेरी हमारी कहाँ लगि फैलिहैं।
मूंदेहुँ तें तुम देखती हौ, यह कोर तिहारी कहाँ लौं सकेलिहैं॥
'कान्हर' हूँ कहँ ख्याल यहै तिनकों हम हाथन ही पर झेलिहैं।
राधेजू, मानौं भलो कै बुरो, अँखमूँदनो संग तिहारे न खेलिहैं॥

न खेलिये; कौन बुलाने गया था? यही बड़ी-बड़ी अनियारी आँखें, और कौन।

आँख का तीखापन भी सराहनीय माना गया है। यह तीखापन बड़ा मीठा होता है। सीधे-सादे मुबारक को तो यहाँ तक विश्वास हो गया था कि कटाक्ष एक तेज़ तलवार है। एक स्त्री आँख में काजल लगा रही थी! मुबारक ने देखा। आप उसके पास दौड़े गये और दयार्द्र हो कहने लगे—

काजर दे री न एरी सुहागिन!
आँगुरी तेरी कटैगी कटाछन!

कटाक्ष-बाण बड़े तेज़ होते हैं। यद्यपि ये हृदय को छेद कर वार से पार हो जाते हैं, तो भी इनकी कसक कसकती ही रहती है—

लागत कुटिल कटाच्छ-सर, क्यों न होहिं बेहाल।
कढ़त जि हियहि दुसाल करि, तऊ रहत नटसाल॥

—बिहारी

तेरे उन कुटिल कटाक्ष-बाणों के बिधते ही कोई क्यों न व्याकुल हो, जो हृदय को आर-पार करके निकल जाते हैं, तो भी नष्ट शल्य रह जाते हैं।

भगवान् करे, किसी की आँख किसी से न लगे—

तीर लगै तरवारि लगै, पै लगै जनि काहू सों काहू की आँखें।

× × ×

मृग की उपमा आँख पर जैसी कुछ बैठती है, वह कविता-रसिकों से अप्रकट नहीं। बिहारी ने इस उपमा पर अपने एक दोहे में कमाल किया है।

वह दोहा यह है—

खेलन सिखये, अलि, भलैं, चतुर अहेरी मार ।
कान-चारी नैन-मृग, नागर नरन सिकार ॥

मार (कामदेव) अहेरी ने कानन-चारी (कानों तक विचरने वाले अर्थात् विशाल; वन में रहनेवाले) नैनरूपी मृगों को कैसा सिखाया है, कि वे नागर (नगर-वासी) लोगों का बेधड़क शिकार कर रहे हैं। अहेरी की विलक्षण चातुरी है। श्लेष हो तो ऐसा।

यही नेत्र-मृग मुख-चन्द्र के रथ में जोते गये हैं। कैसा रम्य रूपक है—

लसैं बीरैं चका सी चलैं श्रुति में, भृकुटी जुवाँरूप रही छवि छ्वै।
अलकावलि डोरी कसी 'नृप संभुजू' सूत-अनङ्ग दई छरी छ्वै॥
तम साँवरे रंगहिं जानत हैं हठि पीछू परे हैं चलैं जित ह्वै।
कर छालत आवत नैन किधौं ये सुधाकर के रथ के मृग द्वै॥

बीरैं अर्थात् कर्णाभूषण (ढारें) पहिये हैं, जो चल रहे हैं। भौंहें जुवा हैं। अलकों की डोरी से रथ में जुते हुए हैं। मन्मथ सारथी ने चाबुक भी धीरे से जमा दिया है, इससे और भी वेग से चलने लगे हैं! श्रीकृष्ण के श्याम रंग को अँधेरा समझते हैं। जहाँ-कहीं वे जाते हैं, वहीं चन्द्रमा के जाने की आवश्यकता अनुभव कर ये हठीले उनके पीछे-पीछे लगे रहते हैं। राधिका जी के ये नेत्र हैं अथवा सुधाकर-रथ के चौकड़ी भरते हुए चपल कुरङ्ग!

पीयूषवर्षी बिहारी ने आँखों को तुरङ्गभी बनाया है। इस उक्ति में कवि लाजरूपी लगाम से भी नेत्र-तुरंग को हाथ में नहीं रख सका।

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग-लौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं॥

लगाम का खींचना ही फ़िजूल है! मुंहजोर घोड़े भी कहीं किसी के वश के होते हैं!

मतिराम भी कुछ ऐसा ही कह रहे हैं—

मानत लाज-लगाम नहिं, नैकु न गहत मरोर।
होत लाल लखि बाल के दृग-तुरङ्ग मुँहजोर॥

कुरंग और तुरङ्ग का रङ्ग तो देख लिए, अब मीन और खञ्जन की उपमाएँ और देखनी चाहिएँ। मीन की चञ्चलता और जल के प्रति अनन्यता जगत्प्रसिद्ध है। सबने सब कुछ कहा, पर बाह्य-नेत्र-शून्य सूर ने मीनोपमा को जैसा निबाहा, कोई क्या निबाहेगा? सब उपमाएँ रद कर दीं, एक मीनता ही सूरदास को सच्ची जँची—

उपमा नैनन एक रही।
कविजन कहत-कहत सब थाके, सुधि करि नाहिं कही॥
नहिं चकोर, विधु मुख बिनु जीवत, भँवर नहीं उड़ि जात।
हरि-मुख-कमल-कोस बिछुरे तें, इत-उत कत मँडरात॥
ऊधो बधिक ब्याध ह्वै आये, मृग सम क्यों न पलात।
भाजि जाहिं बन सघन स्याम में, जहाँ न कोऊ घात॥
खंजन मनरंजन न होहि ए, कबहूं नहिं अकुलात।
पंख पसारि न होहिं चपल गति, हरि समीप मुकुलात।
कमल न होहिं कौन विधि कहिए, झूठे ही तनु आड़त।
'सूरदास' मीनता कछू इक, जलभरि कबहूँ न छाँड़त॥

मीन का ही गुण इनमें कुछ-कुछ है, कारण कि ये जल से कभी पृथक नहीं होते, सदैव सजल अर्थात् अश्रुपूर्ण रहते हैं।

मीनोपमा पर गोसाईं जी की भी एक सूक्ति देख लीजिए—

प्रभुहि चितै पुनि चितै महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज-मीन जुग जनु विधु मंडल डोल॥

काम की दो मछलियाँ चन्द्र-मंडल पर हिंडोला झूल रही हैं क्या!

इसी की छाया पर—

सोम-सुधा-सर के मधि डोलत
मानहुँ मीन भये मतवारे।

एक कवि ने मीन रूपी आँखों की सुनहरी डिबियों में पुतली-रूपी नीलम-मणियाँ खोलकर रख दी हैं। देखिये—

बाल के नैन की पूतरियाँ
निसिबासर लाल के ही मे खगी हैं।
कंचन की झख रूप-डबीन में
खोलि घरी मनों नील नगी हैं॥

बलिहारी !

× × ×

सूरदास जी की खञ्जन पर भी एक परमोत्तम सूक्ति है। नीचे का पद आप का, अन्तसमय का, है। इसमें कैसी उच्च प्रणय-उत्कण्ठा है—

खंजननैन रूप-रस-माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे, पल-पिंजरा न समाते॥
चलि-चलि जात निकट स्रवननि के, उलटि-पलटि ताटंक फँदाते।
'सूरदास' अंजन गुन-अटके, नतरु कबहिं उड़ि जाते॥

आलस या नींद-भरी आँखें भी कवि-जैसे निठल्लों को ही प्यारी लगती हैं। उन्हें जागने में आनन्द नहीं मिलता। नीरस उद्योग को वे दूर से ही हाथ जोड़ लेते हैं! तभी तो आलस-भरी आँखों के शिकार बन बैठे हैं!!

सेज ही पै अँगिराति जम्हाति अनेक तलासे बतावति राधे।
आधे खुले दृग आधे मुंदे, अखरा मुँह तें कढ़ैं आधे हि आधे॥

अधखुली या अधमुँदी आँखों में सचमुच ही एक अनोखी माद कता है।

मतवाली आँख पर एक सुकवि की सूक्ति देखिये—

झूमत झुकत भरे मद के अरुन नैन,
मानों मैन-तून हैं कढ़त जातें सर हैं।
हाव किलकिंचित सुरूप धरे 'नाथ' कैधौं,
मोहन बसीकर उचाट के अखर हैं॥
कैधौं मीन पैरत सुहाग के सरोवर में,
मानिक-जटित भूमि खंजन सुघर हैं।

कैधौं अनुराग कों लपेटि कैं सिंगार बैठ्यौ,
कैधौं कौल-पाँखुरी में डोलत भँवर हैं ॥

× × ×

महाकवि देव नेत्र को मत्त मातङ्ग के रूप में देख रहे हैं—

लाज की निगड़, गड़दार अड़दार चहूँ,
चौंकि चितवनि चरखीन चमकारे हैं।
बरुनी अरुन लीक, पलक झलक झूल,
झूमत सघन, घन घूमत घुमारे हैं ॥
रंजित रजोगुन, सिँगार पुञ्ज, कुञ्जरत,
अञ्जन सोहन मन-मोहन दतारे हैं।
'देव' दुखमोचन सकोच न सकत चलि,
लोचन अचल ए मतङ्ग मतवारे हैं ॥

कैसा रुचिकर रूपक है!

कमल, भ्रमर, खंजन, चकोर और न जाने किस-किस की समता आँख से की जाती है।

सुकवि नबी ने अपने एक कवित्त में नेत्रोपमाओं का अच्छा संग्रह किया है। वह कवित्त यह है—

मृग कैसे, मीन कैसे, खंजन प्रवीन कैसे,
अञ्जन-सहित सित असित जलद से।
चर से, चकोर से, कि चोखे खाँड़े-कोर से,
कि मदन-मरोर से, कि माते राते मद से ॥
'नबी' कवि पैना से, कि और नैन बैना से,
कि लियरे सलौना से, कि आछे मृगमद से।
पय से, पयोधि से, कि और सौंधे सौंध से,
कि कारे भौंर कैसे, अनियारे, कोकनद से ॥

आँख क्या है, भगवान् का विराट्रूप है। जिसमें चराचर विश्व समा रहा है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति आँख ही है। इसमें सत्व-रज-तमोगुण के

श्वेत, अरुण और श्याम, क्रमशः तीनों ही, रङ्ग पाये जाते हैं। इस वर्ण-त्रयी पर एक बड़ा ही अनूठा दोहा मिलता है—

अमी हलाहल मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जिहि चितवति इक बार॥

नेत्र की वर्ण-त्रयी पर लाल भगवानदीन—'दीन' कवि—की निम्न-लिखित रचना बड़ी ही सुन्दर हुई है—

कहो तो आज कह दें, आपकी आँखों को क्या समझे।
सिता, सिन्दूर, मृगमदयुक्त अद्भुत कुछ दवा समझे॥
अगर इसको न मानो तो बता दें दूसरी उपमा।
सहित हाला हलाहल-मिश्रिता सुन्दर सुधा समझे॥
न हो संतोष इस पर भी तो उपमा तीसरी सुन लो।
युगल-पद-धारिणी त्रिगुणात्मिका ऋगु की ऋचा समझे॥
दवा कैसी, सुधा क्या है, ऋचा की बात जाने दो।
हँसी, अनुरागयुत शृङ्गार रस की भूमिका समझे॥
न मानो भूमिका तो पाँचवीं उपमा बता देवें।
सकल जग तारने के हित त्रिवेणी की धरा समझे॥
त्रिवेणी की धरा सिकतामयी, ये हैं रसिकता-मय।
मकरगत मन्द मंगल चन्द्र की शुभदा छटा समझे॥
भला इन अँखड़ियों से इस छटा की तुल्यता कैसी!
जगत को मोहनेवाली त्रिदेवों की प्रभा समझे॥
त्रिदेवों की प्रभा भी सामने इनके नहीं जँचती।
खरी त्रिगुणात्मिका माया की द्व्यर्थक फक्किका समझे॥
भला इस फक्किका से और इन आँखों से क्या संगत।
सुविद्या एक को अपरा तो दूजी को परा समझे॥
नहीं कहते बनी उपमा, भुलावे में पड़े हम भी।
सदाही 'दीन' हितकर राम-सीता की दया समझे॥

कवि के शब्दों में यह कविता तीनों रंगों और दोनों आँखों के वर्णन

का पंचामृत है। हम भी कहते हैं—अवश्य है, निस्संदेह है।

रजोगुण की शोभा मनोमोहिनी है। वह रंग बड़ा ही चटकीला है। वह लाली निराली है। बिहारी लिखते हैं—

बाल, काहि लाली भई, लोयन-कोयन माहि ?
लाल, तिहारे दृगन की, परी दृगन में छाहिं ॥

लाल ! तुम्हारी लाली पड़ने से ही मेरे नेत्र लाल हो गये हैं। मैं तुम्हारे रङ्ग में पूरी रँग गयी—

काहू के रंग रंगे दृग रावरे, रावरे रंग रंगे दृग मेरे।

आँख में यह श्वेतता क्या है ? श्यामसुन्दर से प्राप्त श्वेतता है। श्याम से श्यामता मिलती है या श्वेतता ? यह कैसी बात कह रहे हो ? बात तो यथार्थ है—

कोटि भानु जो ऊगवै, तऊ उज्यार न सोय।
तनिक स्याम की स्यामता, जो दृग लगी न होय ॥

अथवा—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम-रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय ॥

—बिहारी

श्याम से आँख लगे तब न ? श्यामाञ्जन नेत्रों में लगा लिया जाय तो बन ही न जाय ? धन्य उस गोपी को, जिसकी यह धारणा है—

सांवरे लाल को सांवरो रूप, मैं नैनन को कजरा करि राख्यो ॥

—देव

संसार का कल्पित कज्जल, झूठा अञ्जन, धुल कर छूट जाता है, पर श्यामाञ्जन—कृष्ण-रूप—छुड़ाने पर भी नहीं छूटता। मंदमति लेखक ने इस आशय का एक पद 'अनुराग-वाटिका' में लिखा है। वह यह है—

कैसे यह मूरति बिसराऊँ ?
नैन पीठमय, पीठ नैनमय, किमि दोउन बिलगाऊँ ?
स्याम-रूप अंजन कोयन तें क्योंकरि धोय बहाऊँ ?

किमि वह उरझीलो चितवनि इन आँखनि तें सुरझाऊँ ?
वाकी सरस-माधुरी में रमि कित चित अनत रमाऊँ ?
यह मन मुग्ध बँध्यौ उन अलकनि, कैसे फंद छुड़ाऊँ ?
वह पदु-पदुम-पराग पान कै कत विषयन लगि धाऊँ ?
पिय-अनुराग-नीर-निधि तजि 'हरि' क्यों जग-कूप खनाऊँ ?

एक गोपी कहती है—

एरी मेरी बीर! जैसे तैसे इन आँखिन तें,
कढ़िगो अबीर, पै अहीर कौ कढ़ै नहीं।

—पद्माकर

अरी गवारिन, उस प्यारे अहीर को क्यों आँख से निकाल बाहर कर रही है ? ऐसी मनोहर मूर्ति आँखों में ही रखने योग्य है। सुन, वन-पथिक रामचन्द्र की सुकुमारता देख कर गाँव की स्त्रियाँ क्या कह रही हैं—

ऐसी मनोहर मूरति ए बिछुरे किमि प्रीतम लोग जियौ है।
आँखिन में, सखि! राखिबे जोग, इन्हें किमि कैं बनवास दियौ है ?

—तुलसी

इसी प्रियतम के दर्शनार्थ जन्म-जन्म तरसना पड़ता है, बाट हेरते-हेरते आँखें धुँधली हो जाती हैं, सँदेशा भेजते-भेजते जीभ में छाले पड़ जाते हैं—

आँखड़ियाँ झाँई परीं, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाले परे, पीउ पुकारि-पुकारि॥

—कबीर

प्रिय-वियोग में आँखें जोगिन हो जाती हैं। प्यारे के नाम का बन-बन अलख जगाती फिरती हैं। जोगिन आँखों की दशा देखिये—

बरुनी-बघम्बर में, गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगोहैं भेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही में, दिन-जामिनि हूँ जागैं, भौंहैं
धूम सिर छायौ बिरहानल बिलखियाँ॥

अँसुवा फटिकमाल, लाल डोरी-सेली पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ ।
दीजिए दरस 'देव' कीजिए संजोगिन ए,
जोगिन ह्वै बैठी हैं वियोगिन की अँखियाँ ॥

—देव

क्या इनके जोगिन बनने में अब भी कुछ कसर है ? कृपा-सिन्धो ! दर्शन दो, अब और अधिक तरसाने की ज़रूरत नहीं । दर्शन न दिये, तो जानते हो क्या होगा—

बिना प्रानप्यारे भये दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजौ आँखें ए खुली ही रहि जायँगी !

—भारतेन्दु

इन अभागिनी आँखों के भाग में क्या क्षणमात्र का सुख भी नहीं लिखा ? हा !

इन दुखिया अँखियानु कौं सुख सिरज्यौई नाहि ।
देखैं बनैं न देखते अनदेखैं अकुलाहि ॥

—बिहारी

ये दुखिया आँखें किसी भी भाँति समझाये नहीं समझतीं । क्या किया जाय, क्या न किया जाय—

यह संग में लागियै डोलैं सदा, बिन देखे न धीरज आनती हैं ।
छिनहूँ जो वियोग परै 'हरिचंद' तो चाल प्रलै की सो ठानती हैं ॥
बरुनी में फिरैं न झपैं उझपैं, पल में न समाइबो जानती हैं ।
प्रिय प्यारे ! तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं ॥

इन आँखों ने और किसे देखें ! दाग के बाद निथोरी कैसी !

जिन नैननि प्रीतम बसे, तिन अब कहा समाय ।
भरी सराय 'रहीम' लखि, आपु पथिक फिरि जाय ॥

तथा—

जिन आँखिन में तुव रूप बस्यौ
उन आँखिन सों अब देखिये का ?

—भा

हरिश्चन्द्र, निराशा छोड़ो। तुम्हारी विरह-दग्ध आँखें दर्शन पा ठंडी होंगी—

अवलोकि गोपालहिं 'दासजू' ये अँखियाँ
सुख पाइहैं, पाइहैं, प

आँखें तो सफल उसी दिन होंगी जिस दिन वह प्यारी छटा देखने को मिलेगी। अहा।

गुच्छन को अवतंस लसै, सिखि-पच्छन अच्छ किरीट बनायौ।
पल्लव लाल समेत छरी कर-पल्लव में 'मतिराम' सुहायौ॥
गुञ्जन को उर मंजुल हार निकुञ्जन तें कढि बाहिर आयौ।
आजु को रूप लखे ब्रजराज को, आजु ही आँखिन को फल पायौ॥

यही आँखों का सच्चा फल है।

× × ×

प्यारे! क्यों आँखों की ओट छिपे बैठे हो? आओ, तुम्हें हम पर बिठावें—

आउ पियारे! मोहना, पलक झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखौं और कौं, ना तोहिं देखन देउँ॥

इतना ज़बरदस्त अधिकार! कुछ ठिकाना—ना तोहिं देखन सब संभव है। हरि-हीरा का मूल्य भी तो ख़ूब दिया गया है।

संसार-सागर में मग्न रहते भी ये नेत्र-मीन पिपासाकुल रहते हैं

अँखियाँ हरि-दरसन की प्यासी।
देख्यौ चहति कमलनयनि कौं, निसिदिन रहति उदासी॥
काहू के मन की को जानत, लोगन के मन हाँसी।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस बिन लैहौं करवत कासी॥

आत्यंतिक विरहासक्ति प्राप्त होने पर ही आँखों को इतनी तेज़ प्यास लगा करती है। विषयी इसे क्या समझें? जिन की आँखों से बराबर आँसुओं की झड़ी लगी रहती है, वे ही महाभाग हैं। धन्य, कृष्ण-रस-रंगीली गोपियो! तुम्हारे नेत्रों से तो सदा ही रिमझिम वर्षा होती रहती है—

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जब तें स्याम सिधारे॥
अंजन थिर न रहत अँखियन में, कर कपोल भये कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे॥
आँसुन सलिल भये पग थाके, बहे जात सित तारे।
'सूरदास' अब बूड़त है ब्रज, क्यों नहिं लेत उबारे॥

ब्रज डूब जाय तो डूब जाय। पर यह नेत्राम्बु-प्रवाह हृदय-रमण का ध्यान-चित्र नहीं बहा सकता। महाकवि हाली लिखते हैं—

याद उसकी धोदे, ऐ चश्मेतर! तो मानूँ।
अब देखनी मुझे भी तेरी रवानियाँ हैं॥

आँखों से आँसू तो सदा ही बहते हैं, क्या संयोग और क्या वियोग। इसका कारण क्या है? सुनिये—

बिन देखे दुख के चलैं, देखे सुख के जाहिं;
कहौ लाल, इन दृगनि के, अंसुआ क्यों ठहराहिं?

—मतिराम

ये आँसू नहीं हैं। प्यारे, तुम्हारा रूप-रस हमने इतना अधिक पी लिया है कि पेट में नहीं समाता, आँखों द्वारा छलक कर बाहर निकल रहा है। कहीं गागर में भी सागर समा सकता है!

नीठि मैं फोरि हैं आँसू भरो कन ऊँचे उसास गरो क्यों भयो परै।
सागर रूप दियो अँजुरीपानि, भर्यो सो भर्यो, ढर्यो सो ढर्यो परै॥

—देव

धन्य! जिन आँखों से प्रेम के आँसुओं की पुनीत धारा अहोरात्र प्रवाहित रहती है, वास्तव में वे निछावर-वन्दनीय हैं। हरि-रस-रंगीली आँखें ही

आँखें हैं। यों तो मोर के पंखों में भी आँखें हुआ करती हैं, पर किस काम की ?

फूट जायँ ये आँखें, जिन से बँधा अश्क का तार नहीं।

—भारतेन्दु

सच्चा मनोराज्य

महाराज भर्तृहरि ने भव्य भागीरथी के पुण्य तट पर यह कामना प्रकट की थी—

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरित्
गुहा एवागारं, वसनमपि ता एव हरितः।
सुहृद्वा कालोऽयं, व्रतमिदमदैन्यं व्रतमिदं
कियद्वा वच्यामो वटविटप एवास्तु दयिता॥

अर्थात्, महादेव शंकर ही हमारे एक मात्र देव हों, गङ्गा ही हमारी नदी हो, एक गुफा ही घर तथा दिशाएँ ही वस्त्र हों! यह काल ही हमारा मित्र और किसी के आगे दीन न बनना ही हमारा जीवन व्रत हो! अधिक क्या, हमें रमणी ही की चाह हो, तो वटविटप को अपनी अर्द्धाङ्गिनी मानें।

भर्तृहरि का यही सार्वभौम साम्राज्य है! इस कामना को सुन कर लोग हँसेंगे और कहेंगे—भला यह भी कोई बुद्धिमत्ता की बात है! यह कामना तो केवल कवि-कल्पना में ही आ सकती है। उनके लिए कवि-कल्पना ही सही, पर कुछ धूल-भरे हीरे ऐसे भी मिल जायँगे, जो भर्तृहरि की यह मनोवाञ्छा सुन कर कह उठेंगे—नहीं, भाई! यह कल्पना नहीं, सत्य है। सच्चा साम्राज्य तो यही है। देखो, मौज ही तो राज्य है। जिसके मन में मौज है, वही राजा है। मन चङ्गा तो कठौती में गङ्गा। उदयाचल से लेकर अस्ताचल-पर्यन्त प्रभुता पाकर भी जो संतोषी और शान्त नहीं, भला, वह राजा कहा जा सकता है? जिसका चंचल चित्त तृष्णा-तरंगिणी में गोते लगा रहा है, जो मिथ्याभिमान के पीछे लोलुप कुत्ते की नाईं दौड़ रहा है, उसकी अतुल

सम्पत्ति, सम्पत्ति नहीं, उसका समस्त सुख, सुख नहीं; उसका आसमुद्रान्त राज्य, राज्य नहीं। जो मन का दास है, वह जहान का गुलाम है और जो मन का शासक है, वह दुनिया का शाहंशाह है। स्थितप्रज्ञ महापुरुष किस सम्राट् से कम है! विषयी और लोलुप सम्राटों की, दरिद्र बादशाहों की, उन बेफ़िक्र मस्त फ़क़ीरों के साथ तुलना करनी ही मूर्खता है। सम्राटों की मुकुट-मणियाँ तो उन आत्माराम महात्माओं के पादपीठ पर सदा ही झिलमिलाया करती हैं। वे ही स्वर्गराज्य के युवराज हैं, परमानन्द के पूर्णाधिकारी हैं।

मनोराज्य सदा सर्वथा स्वतन्त्र है। यहाँ की व्यवस्था, यहाँ का क़ानून, यहाँ का प्रबन्ध अपूर्व, अद्‌भुत और अनुपम है। यहाँ की प्रजा ईति-भीति से दुखी नहीं रहती। इसे कोई जीत नहीं सकता। यह राज्य भक्ति-विभोर महात्माओं को छोड़ और किसे मिला है! जो इस राज्य में पैर रखता है, उसकी दृष्टि में संसार के समस्त रस नीरस हो जाते हैं। उसे कुबेर भी रंक सूझता है। वह दीन और दुनियाँ दोनों की परवाह न कर पागल की तरह मस्त घूमा करता है। कभी हँसता है तो कभी रोता है, कभी दौड़ता है तो कभी नाचता है। बकता तो है अंटसंट; पर समझता है कि मैं बड़े-बड़े फ़िलासफ़रों (दार्शनिकों) के भी कान काट रहा हूँ।

इस राज्य के ऐश्वर्य में प्रमत्त कुछ रसिकों की कामनाएँ, उन्हीं के शब्दों में, व्यक्त की जाती हैं। दिल की आँख हो तो पढ़िये, नहीं किसी काम-धन्धे में लग जाइये। सब से पहले रसिक रसखानि को लीजिए—

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं मिलि गोकुल-गोप-गुवारन ।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जु धरयौ कर छत्र पुरन्दर-धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिन्दी-कूल कदंब की डारन ॥

और तो और, आप पत्थर भी होने में अपना अहोभाग्य समझते हैं! यह यहीं तो मजेदारी है! रसखानि! तुम्हारी ऐसी बे सिर पैर की बातें, यदि कोई पढ़ा-लिखा समझदार सुन ले तो क्या कहे! पर, तुम्हें उन समझदारों से कोई मतलब नहीं। कहनेवाले हो तो तुम और सुननेवाले हो तो तुम।

मनमौजी ही ठहरे! गोसाईं तुलसीदास ने तो कभी इन समझदारों की परवा नहीं की। कहते हैं—

धूत कहौ, अवधूत कहौ; रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
'तुलसी' सरनाम गुलाम है राम कौ, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लैबो को एक न देबे को दोऊ॥

रसखानि! तुम्हारी सब इच्छाएँ पूरी हुईं, हृदय-हीन विश्वास करें वा न करें, उन्हें समझाने-बुझाने के लिये हमारे पास समय नहीं। हृदय और मस्तिष्क में बड़ा भारी अन्तर है। जिसके सरस हृदय होगा, ज़ख्मी दिल होगा, वही इस घर की परिपाटी समझेगा। रसखानि ने ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मोपासना नहीं की। उन्होंने तो केवल अपने प्यारे से प्रीति की, प्रेम से नाता जोड़ा। जो जब मन में आया, अपने उसी एक हृदयेश्वर को सुना दिया। उनसे भी अपने रँगीले मित्र की मित्रता खूब निभायी। स्वर्गीय पं० राधाचरण गोस्वामी ने लिखा है —

दिल्ली नगर निवास, बादसा-बंस-बिभाकर।
चित्र देखि मन हरो, भरो पन प्रेम सुधाकर।
श्रीगोबर्द्धन आय जबै दर्शन नहिं पाये॥
टेढ़े-मेढ़े बचन रचन निर्भय ह्वै गाये॥
तब आप आय सुमनाय की सुश्रूषा महमान की।
कवि कौन मिताई कहि सकै, श्रीनाथ साथ रसखान की॥

रसखानि का प्रेम-परत्व इन दोहों से कैसा टपकता है—

मोहन छबि रसखानि लखि अब दृग अपनै नाहिँ।
ऐंचे आवतु धनुष से छूटे सर से जाहिँ॥
मो मन-मानिक लै गयौ, चितै चोरि नँदनंद।
कहा करूँ बेमन अरी! परो फेर के फंद॥

उनका दृढ़ विश्वास तो यह था—

देस बिदेस के देखे नरेसन रीझि कै कोऊ न बूझ करैगो।
तातें तिन्हैं तजि जान गिरयौ गुन सो गुन औगुन गाँठि परैगो॥
बाँसुरीवारो बड़ो रिझवार है स्याम जो नैकु सुढार ढरैगो।
लाड़लो छैल वही तौ अहीर को पीर हमारे हिये की हरैगो॥

एक मुसलमान महिला, जिसका नाम ताज था, नन्द के फ़रज़न्द के प्रेम-फन्द में फँस कर, देखिये, क्या कामना कर रही है—

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी, तुम
　　दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी औ निमाज हूँ भुलानी,
　　तजे कलमा कुरान, सारे गुननि गहूँगी मैं॥
साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार!
　　तेरे नेह-दाघ में निदाघ ज्यों दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै,
　　हौं तो मुगलानी, हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥

भक्त-शिरताज ताज इस राह में पैर रखते ही मुग़लानी से हिन्दुवानी हो जाने को तैयार हो गयी। प्रेम की कुछ ऐसी धुन सवार हुई कि कलमा और कुरान सभी तीन-तेरह हो गये। क्या हिन्दू धर्म और क्या इस्लाम, जहाँ से प्यारे की झलक मिले, वही अपना दीन है, वही अपना मज़हब है। अपने श्याम के वास्ते क्या क्या नहीं करना पड़ता?

आवै यही जिय में अब तौ, सजनी, चलु गोपिन के सँग जैये।
लाज रहै तो रहै पै कहा, उहि प्रानपियारे को देखन पैये॥

प्रेमोन्मत्त किसी भी मज़हब के क़ायल नहीं। कुछ मुसल्मान सन्तों के उदाहरण लीजिये—

मेरी मिल्लत है मुहब्बत, मेरा मज़हब इश्क़ है।
ख़्वाह हूँ मैं काफ़िरों में ख़्वाह दींदारों में हूँ॥

बुतपरस्ती को तो इस्लाम नहीं कहते हैं।
मातक़िद कौन है 'मीर' ऐसी मुसलमानी का ॥

—मीर

जब से उस शोख़ के फन्दे में फँसे, टूट गये—
जितने थे मज़हबो मिल्लत के जहाँ में बंधन ॥

—नज़ीर

रसखानि और ताज ही नहीं, और भी कई कट्टर मुसलमान श्रीकृष्ण के प्रेम में मस्त हुए हैं, जिनके संबंध में भारतेन्दुजी ने लिखा है—

अली खान, पाठान-सुता सह ब्रज रखवारे।
सेख नबी, रसखानि, मीर अहमद हरि-प्यारे ॥
निरमलदास, कबीर, ताजखाँ बेगम बारी।
तानसेन,* कृष्णदास, बिजापुर-नृपति-दुलारी ॥
पिरज़ादी बीबी रास्तो, पद-रज नित सिर धारिये।
इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये ॥

सच बात तो यह है कि उस अलौकिक रस का जरा भी चसका लग जाने पर त्रिलोक की भी सम्पदा धूल सी प्रतीत होती है। जाति-पाँति का बखेड़ा, ऊँच-नीच का विचार, धन-जन की ऐंठ, न जाने कहाँ, चली जाती है, जिस प्रकार ज्वर में मुख का स्वाद बिगड़ जाता है, उसी प्रकार सारे भोग-विलास नीरस जान पड़ते हैं। चित्त अधीर हो जाता है, मन चाहता है कि कब मीन बन उस अगाध रस-सागर में लीन रहूँ, कब चकोर हो प्यारे के मुखचन्द्र की ओर टक लगाये देखता रहूँ। कृष्णगढ़ाधीश महाराज नागरीदास को किस सांसारिक सुख की कमी थी? उनके पास सब कुछ था, पर मौज नहीं थी। तो भी राज-पाट से बेतरह घबरा कर प्रायः कहा करते थे—

---

*यह पहले ब्राह्मण थे, पीछे मुसलमान हो गये। पर स्वामी हरिदासजी के कृपा-पात्र होने के कारण भक्ति इनकी श्रीकृष्ण के ही प्रति थी।

कहा भयौ नृप हू भये, ढोवत जग-वेगार।
लेत न सुख हरिभगति कौ, सकल सुखन कौ सार॥
जहाँ कलह तहँ सुख नहीं, कलह सुखन कौ सूल।
सबहि कलह इक राज में, राज कलह कौ मूल॥
हौं नित या मन मूढ़ तें, डरत रहत हौ हाय।
कृष्णचन्द्र की ओर तें, मति कबहूँ फिरि जाय॥

बस, ज्योंही नागरीदासजी का मन इस नकली राज्य से ऊबा, त्योंही उन्हें असली राज्य प्राप्त हो गया। उन्हें उस राज्य में क्या मिला, वे क्या से क्या हो गये, यह भारतेन्दुजी के शब्दों में सुनिये—

वल्लभ पथहिं दृढ़ाय कृष्णगढ़-राजहिं छोड़्यौ।
धन-जन-मान-कुटुम्बहिं बाधक लखि मुख मोड़्यौ॥
केवल अनुभव-सिद्ध गुप्तरस-चरित बखानैं।
हिय संयोग-उच्छलित और सपनेहुँ नहिं जानैं॥
करि कुटी रमनरेती बसत, संपति-भक्ति कुबेर भे।
हरि-प्रेम-माल-रस जाल के नागरिदास सुमेर भे॥

विक्षिप्त नागरीदास शान्ति-लाभ ले स्वयं ही कह उठे—

राज-कलह के मूल कौ बिषअमल छुटायौ।
'नागरिया' वृन्दा-बिपिन रस-अमरित प्यायौ॥

एक प्रेमातुरा गोपी की मनोभावना देखिये—

होत रहै मन यौं 'मतिराम,' कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये, अरु ह्वै मुरली अधरा-रसु लीजै॥

'वनमाल' होकर प्यारे के हृदय से लगने और 'मुरली' होकर उसका अधरामृत पीने में कितनी उत्कण्ठा है—कोई अन्दाज़ा नहीं लगा सकता। जिस मुरली पर इतना द्वेष प्रकट किया गया था कि—

भावतो मोहि मेरो 'रसखानि' सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरा न धरौंगी॥

आज प्रेमोधीरता-वश, उसी का रूप होने के लिए यह उद्गार

निकल रहा है कि—

हुै मुरली अधरा-रसु लीजै !

जिसने भी इस भगवदीय मनोराज्य में पदार्पण किया, उसे यह स्वर्गीय सुधा चखने को मिली। लखनऊ के रईस साहु कुन्दनलालजी भी एक ऊँचे मनमौजी थे। इनका सम्बन्ध-नाम ललितकिशोरी था। इन्होंने अपना सारा बादशाही वैभव तृणवत् त्याग दिया था। ये सच्चे आशिक थे। प्रेमोन्मत्त हो आप कैसी-कैसी कामनाएँ कर रहे हैं—

कदँब कुञ्ज ह्वैहौं कबै, श्रीवृन्दावन माहँ।
ललितकिसोरी लाड़िले बिहरैंगे तिहि छाहँ॥
कब हौं सेवा-कुञ्ज में, ह्वैहौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं ललित लड़ैती लाल॥
सुमन-बाटिका-विपिन में, ह्वैहौं कब मैं फूल।
कोमल कर दोउ भावते, धरिहैं बीनि दुकूल॥
कब कालीदह-कूल की, ह्वैहौं त्रिविध समीर।
जुगल अंग-अंग लागिहै, उड़िहै नूतन चीर॥
मिलिहै कब अँग छार ह्वै, श्रीवन-बीथिन-धूर।
परिहैं पद-पंकज बिमल मेरी जीवनमूर॥
कब गहवर-वन-गलिन में, फिरिहौं होय चकोर।
जुगलचन्द्र-मुख निरखिहौं, नागरि नवलकिशोर॥
कब कालिन्दी-कूल की, ह्वैहौं तरुवर-डार।
ललितकिशोरी लाड़िले, झूलैं झूला डार॥

कैसा उत्तम व्यापक भाव है! इन दोहों में प्रेमोन्मत्त कवि प्रकृति के अणु-परमाणु के साथ एक रूप होकर अपने प्रियतम की किस भावुकता से आराधना कर रहा है! कौन कहता है कि हमारे कवियों ने प्रकृति की अवहेलना की है। हाँ, पाश्चात्य कवियों की भाँति कोरा प्रकृति-पर्य्यवेक्षण उनके रसिक नेत्रों में नहीं समाया। वे लोग अपने स्वर्गीय आदर्श को प्रकृति में ओतप्रोत समझते थे। उनकी दृष्टि में नीलाम्बुद श्यामसुन्दर का कलित

कलेवर, पूर्णचन्द्र उनका मुख और प्रफुल्लित पङ्कज उनके रसीले नेत्र थे। भावुकजन प्रकृति को चैतन्यमूर्ति समझते हैं। वे धूल, पवन, वृक्ष, लता-पता, फूल-फल, चकोर-मोर आदि सभी बनने को तयार हैं, बशर्ते कि वे सब प्रियतम के मिलने में सहायक हों।

और सुनिये—

जमुनापुलन-कुञ्ज गहवर की
कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पदपंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै
मधुरे-मधुरे गुञ्ज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन-बीथिन डोलौं,
बचे सीथ संतन के पाऊँ।
ललित किसोरी आस यही मम
ब्रज रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

आशा हो तो यह, नहीं तो "नैराश्यं परमं सुखम्" ही अच्छा है। यह न समझ लेना कि यह शुभाशा कभी पूरी ही नहीं होती। ऐसा होता तो कौन आँख का अन्धा अपने अमोल मन-मानिक को वेचकर समझदारों के सामने वेवकूफ़ बनता? हमारी तो दृढ़ धारणा है कि इस मनोराज्य में जिसने जैसी कामना की, तुरन्त पूरी हुई। प्रमाण हरिश्चन्द्र देते हैं।

इतबार न हो तो देख न ले, क्या हरीचन्द का हाल हुआ?
पी प्रेम-पियाला भर-भर कर, टुक इस मय का भी देख मज़ा॥

इस प्रेमासव का एक ही घूँट पीकर देखो क्या होता है। होगा क्या, प्रेमोन्मत्त हो शायद तुम भी सुकवि हठी के साथ अपना स्वर मिला दो—

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुञ्जन कौ,
पसु कीजै महाराज नन्द के बगर कौ।
नर कीजै तौन, जौन राधे-राधे नाम रटै,
तरु कीजै वर कूल कालिन्दी-कगर कौ॥

इतने पै जोई कछु कीजिए कुंवर कान्ह,
राखियै न आन फेर 'हठी' के झगार कौ ।
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै महाराज !
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर कौ ॥

अनन्य व्यास भी कुछ ऐसा ही राग अलाप रहे हैं—

ऐसौ कब करिहौ मन मेरो ।
कर करुवा, हरवा गुञ्जन कौ, कुञ्जन माहिं बसेरौ ।
ब्रजबासिन के टूक जूँठ, अरु घर-घर छाँछ महेरौ ॥
भूँख लगै तब माँगि खाउँगो, गिनौ न साँझ सवेरौ ।
इतनी आस व्यास की पूजिये, मेरे गाम न खेरौ ॥

अब गाँव-खेड़े का क्या करोगे, महाराज ! संसार भर की ज़मींदारी तो दाब बैठे ! धन्य व्यासजी ! न माधो का लेना, न ऊधो का देना ।

पूर्ण काम व्यास अब निश्चिन्त हो कहते हैं—

काहू के बल भजन कौ, काहू के आचार ।
'व्यास भरोसे स्याम के, सोवत पाँउ पसार ॥

ख़ूब सुख की नींद सोइये । अब चिन्ता ही किस बात की ? सारी गृहस्थी का भार तो भगवान् के सिर पर रख दिया है, अब भी न सोओगे तो सोओगे कब ?

कहु 'रहीम' का करि सकैं, ज्वारी, चोर, लवार ।
जाकौ राखनहार है, माखन-चाखनहार ॥

जब चोर-शिरोमणि ही चौकसी कर रहा है, तब छोटे-मोटे चोरों का क्या भय ?

चिन्ता-सर्पिणी के विषम विष से कोई बचा है तो एक प्रेमोन्मत्त भगवद्भक्त ही । प्रेम के आनन्द में उन्मत्त फ़क़ीर का ख़ाका कविवर नज़ीर ने क्या ख़ूब खींचा है । देखिए—

जिस सिम्त नज़र कर देखै हैं उस दिलबर की फुलवारी है ।
कहीं सब्ज़ी की हरियाली है, कहीं फूलों की गुलकारी है ॥

दिनरात मगन ख़ुश बैठे हैं औ आस उसी की भारी है।
बस आपही वह दातारी है, औ आप ही वह भंडारी है॥
हर आन हँसी हर आन ख़ुशी, हर वक्त अमीरी है, बाबा।
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए फिर क्या दिलगीरी है, बाबा॥

मनोराज्य की सीमा पर पैर रखना हर किसी के वश का नहीं। मन-माखन-चोर कृष्ण से पहरा दिलाना सहज नहीं। यह सुख, यह रस बड़े भाग्य से मिलता है। बिना संत-स्वभाव प्राप्त किये यह सर्वतंत्र मनोराज्य कहाँ? एक बार एकवृत्त चित्त से इस भावना पर तो ध्यान दीजिए—

कबहुँक हौं इह रहनि रहौंगो?
श्रीरघुनाथकृपालु—कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो।
जथा लाभ संतोष सदा, काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन-क्रम-वचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्त्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगतमान, सम सीतल मन, पर गुन, औगुन न कहौंगो॥
परिहरि देहजनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
'तुलसिदास' प्रभु इहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो॥

इस भावना के साथ ही साथ यह भी मानना पड़ता है—

जेहि जेहि योनि करमबस भ्रमहीं।
तहँ-तहँ ईसु देहु यह हमहीं॥
सेवक हम, स्वामी सियनाहू।
होउ नात इहि ओर निबाहू॥

इसी प्रकार के कुछ और भी नाते गोसाईं जी स्थापित कर रहे हैं। एक पद में कहते हैं—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥

ब्रह्म तू, हौं जीव, तुही ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब विधि हित मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों-त्यों 'तुलसी' कृपालु! चरन-सरन पावै॥

यही नाते सच्चे हैं, और सब झूठे। एक बार इस सम्बन्ध रस का सुख मिला कि फिर छोड़ा नहीं जाता। यही अनुभूत होता है कि जो सुख का निचोड़ था, वह पा लिया, जो जीवन का सार था, वह मिल गया, जो लक्ष्य था, वह वेध लिया। इस अवस्था में आने से सारा रंग-ढंग ही बदल जाता है। नयी-नयी भावनाएँ उठती हैं। इस आनन्द सागर से क्षणमात्र भी बाहर निकलना प्राणान्त दुख-सा जान पड़ता है। सदा यही धुन सवार रहती है कि—

पान चरनामृत कौ गान गुन-गानन कौ,
हरिकथा-सुनें सदा हिये कौ हुलसिबो।
प्रभु के उतारन की गूदरी औ चोरन की,
माल भुज कंठ उर छापन कौ लसिबो॥
'सेनापति' चाहत है सकल जनम भरि,
वृन्दावन-सीमा तें न बाहर निकसिबो॥
राधामनरञ्जन की सोभा नैन-कञ्जन की,
माल गरे गुञ्जन की, कुञ्जन कौ बसिबो॥

महाभाग बालि की, अन्त समय की, कामना क्या थी, सुनिये—
अब नाथ, करि करुना बिलोकहु, देहु जो बर माँगऊँ।
जेहि जोनि जनमहुँ करमवस, तहँ राम-पद अनुरागऊँ॥

प्राण-प्रयाण के समय की एक और मनोवाञ्छा सुनने में आयी है। अहा!

कदँब की छाँह हो, जमुना का तट हो।
अधर मुरली हो, माथे पर मुकुट हो॥
खड़े हों आप इक बाँकी अदा से।
मुकट झोंके में हो, मौजे हवा से॥

गिरै गरदन ढुलक कर पीत पट पर।
खुली रह जायँ आँखें या मुकुट पर॥
दुशाले की एवज हो ब्रज की वह धूल।
पड़ैं उतरे हुए सिङ्गार के वे फूल॥
मिलै जलने को लकड़ी ब्रज के बन की।
छिड़क दी जाय धूली या सदन की॥
अगर इस तौर हो अंजाम मेरा।
तुम्हारा नाम हो, औ काम मेरा॥

इस परमभक्त की यह मनोभावना बिरले ही जान सकेंगे। "गिरै गर्दन ढुलक कर पीतपट पर; खुली रह जायँ आँखें ये मुकुट पर" इन पंक्तियों को, जान पड़ता है, भक्त ने भावना की मंजु मसि से अङ्कित किया है, ख़ूनेजिगर से लिखा है। अन्त में कहता है कि अगर इस तरह मेरा अंजाम (मृत्यु) हो, तो मेरी तो बन ही जायगी, साहब! तुम्हारा भी जगत् में नाम हो जायगा!

देखा जाय तो एक तरह से सभी अपने-अपने मन के लड्डू उड़ा रहे हैं। कोई धन में मस्त है, तो कोई जन में; कोई यौवन में, तो कोई भोग-विलास में; कोई विद्या में तो कोई वाद-विवाद में, कोई ऐश्वर्य में तो कोई अधिकार में, पर ये सब मस्तियाँ क्षणिक हैं, झूठी हैं। सच्ची मस्ती, सच्चा मनोराज्य तो एक आत्मानन्द में ही है; तदीय होने में ही है। किसी ख़ुदमस्त ने ख़ूब कहा है—

कोई अकल मस्त, कोई सकल मस्त, कोई चंचलताई हाँसी में।
कोई वेद मस्त, कोई तीर्थ मस्त, कोई मक्के में कोई काशी में॥
कोई नाम मस्त, कोई धाम मस्त, कोई सेवक में कोई दासी में।
इक ख़ुदमस्ती बिन और मस्त सब फँसे अविद्या-फाँसी में॥

ख़ुदमस्ती में मस्त होकर जिस अगाध-सिंधु के बिन्दु हो, उसी में मिल जाओ।

दुनिया से 'ज़ौक़' रिश्तये उल्फ़त को तोड़ दे।
जिस सर का है यह बाल, उसी सर में जोड़ दे॥

—

शिव-सूक्तियाँ

कुन्द इन्दु सम देह, उमारमन करुना-अयन ।
जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मरदन-मयन ॥

यह सोरठा वैष्णव सिरोमणि गोसाईं तुलसीदास कृत है। इसमें शिव-वन्दना के साथ ही साहित्यिक चमत्कार भी कम नहीं। सोरठा करुण-रस प्रधान है। भवभूति के मत से करुण-रस ही सर्वोत्कृष्ट रस है। शिवजी परम सुन्दर हैं, शृंगार-मूर्ति हैं, भक्तवत्सल हैं, मदन मर्दन हैं। यहाँ सौन्दर्य, शुद्धप्रेम, भक्तवात्सल्य और सामर्थ्य का एक साथ ही वर्णन किया गया है; साथ ही मोह और कामलिप्सा की भी निन्दा की गई है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का कैसा उत्तम मेल हुआ है। अस्तु।

यह धारणा-सी हो गई है कि सनातन धर्म बहुदेव-वादी है। शिव, विष्णु, देवी, गणेश आदि अनेक देवी-देवताओं का इसमें इन्द्रजाल-सा फैला हुआ है, किन्तु यह धारणा नितान्त निर्मूल है। हमारा धर्म बहु-देव-वादी नहीं प्रकृत्या-एकेश्वर वादी है। हम लोग एक ही इश्वर को भिन्न-भिन्न नामों से पूजते हैं। शिव हों या विष्णु, देवी हों या गणेश; सूर्य हों या चन्द्र, स्तुति करते समय सब के साथ एक से ही विशेषण प्रयुक्त करते हैं। 'रुचिर्भिन्नाहि लोके' के अनुसार उपासक के लिये, शिव विष्णु, देवि आदि नामों और रूपों की कल्पना करनी पड़ी है। किन्तु अनन्यता प्राप्त करने के लिये ईश्वर के प्रत्येक रूप और नाम की महिमा पराकाष्ठा तक पहुँचा दी गयी है। सत्व, रज और तमोगुण के अनुसार एक ही परमात्मा विष्णु, ब्रह्म और शिव नामक त्रिमूर्ति में विभक्त कर दिया गया है। जिसकी जैसी प्रकृति है उसे वैसे ही रूप की उपासना करनी चाहिये। वास्तव में हैं ये सब एक ही परमात्मा की भिन्न-भिन्न उपासनाएँ। यह और बात है कि कुछ दुराग्रही अहम्मन्य मूर्खों ने, साम्प्रदायिक ओट लेकर, एक दूसरे के उपास्य देव की निन्दा करके पारस्परिक द्वेष फैला रखा है। शैवों ने विष्णु को एवं वैष्णवों ने शिव को भला-बुरा कह कर ही सनातनधर्म पर यह लांछन लगाने का अवसर

दिया है कि वह बहुदेव-वादी है। परन्तु दुराग्रहियों के वितण्डावाद से सत्सिद्धान्त पर कहीं आघात पहुँच सकता है? जो परमेश्वर के सच्चे हृदय से भक्त हैं, वे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय को बुरा नहीं कहते। उनकी दृष्टि में तो जहाँ देखो तहाँ एक ही परमेश्वर अनेक नाम-रूप से रम रहा है—

समाया है जब से तू आँखों में मेरी।
जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है॥

परमेश्वर का सच्चा भक्त अपने इष्टदेव को सचराचर सृष्टि में सर्वव्यापी समझता है। वह कहता है —

सिया-राममय सब जग जानी।
करउँ प्रणाम जोरि जुगपानी॥

अथवा—

सर्वदेव-नमस्कारः केशवंप्रति गच्छति।

वह किसी सम्प्रदाय-विशेष से द्वेष नहीं रखता है। वह सर्व देवी-देवताओं की भक्ति-भाव से पूजा करता हुआ पुष्पदन्ताचार्य की इस सूक्ति से काम लेता है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपति मतं वैष्णवमिदं
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिद मतः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्याद्दजु कुटिल नाना पथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

वेदान्त, सांख्य, योग, पाशुपत एवं वैष्णव मतों से, रुचि-वैचित्र्य के अनुसार, साधक जन आप की आराधना करते हैं। आदि में प्रकृत्य नुसार भिन्नता रखते हुए भी अन्त में अभिन्न हो जाते हैं। जैसे टेढ़े-सीधे मार्गों से बहती हुई नदियाँ अन्त में एक समुद्र में मिल जाती हैं।

गोसाईं तुलसीदास यद्यपि पक्के वैष्णव थे, तथापि उन्होंने दुराग्रहवश कभी किसी देवता की निन्दा नहीं की। उन्होंने प्रत्येक देवता की स्तुति कर अन्त में उससे यही माँगा है कि—

'बसहिं रामसिय मानस मोरे।'

'देहु काम-रिपु राम-चरन-रति तुलसिदास कहँ कृपानिधान'

'करि कृपा हरिय भ्रम-फंद काम। जेहि बसहिं हृदय सुखरासि राम।'

'देहि मा!—मोहि प्रण प्रेम, यह नेम निज'

राम घनश्याम, तुलसी पपीहा।'

इत्यादि।

गोसाईं जी ने परात्पर तत्व से शिव और राम में किञ्चिन्मात्र भेद नहीं माना। श्रीरामचन्द्र के मुख से कहला रहे हैं—

शिव-द्रोही मम दास कहावा। सो नर मोहिं सपनेहुँ नहिं भावा॥

शङ्कर-विमुख भक्ति चह मोरी। सो नर मूढ़ मन्द, मति थोरी॥

शङ्कर-प्रिय मम-द्रोही, शिव-द्रोही मम दास।

ते नर करहिं कल्प शत, घोर नरक महँ बास॥

× × ×

हरि-हर निन्दा सुनहिं जे काना। तिनहिं पाप गोघात समाना॥

× × ×

औरौ एक गुपुत मत, सबहिं कहौं कर जोरि।

शङ्कर-भजन बिना नर, भगति न पावै मोरि॥[1]

गोसाईं जी का तो यह अटल विश्वास था कि—

शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोर्हृदयं शिवः।

अस्तु; अब इसमें कोई झगड़े की बात नहीं रही कि वैष्णव को शिव का अथवा शैव का विष्णु का नाम लेना या गुण-गान करना पाप है। कम

---

[1]स्मरहर-परिचर्य्या साम्प्रतं तन्यते या,

जनयति हरिभक्तिं हन्त पूर्वान्तरे सा।

शमति दुरितवर्गं सा च सुऽतेपवर्गं,

कुत इव फलहानिः कुर्वतां शर्वपूजां।

—वेङ्कटाध्वरिः

से कम इस लेख का लेखक—वैष्णव-दासानुदास कुक्कुराभास—तो शैव-साहित्य को उसी दृष्टि से देखता है, जिससे कि वैष्णव साहित्य को। शिव का ध्यान परममंगलकारी है। आप साकार करुण रस हैं। सकरुण स्वभाव के सम्बन्ध में महाकवि विशाखदत्त की आशीर्वादात्मक क्या ही उत्तम उक्ति है—

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातै—
स्संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रां ज्वलन कणमुचं बन्धतो दाह भीते—
रित्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःख नृत्यम्[1]

पृथ्वी कहीं दब न जाय, इस विचार से चरण का भार उस पर नहीं दे सकते, ऊपर के लोक कहीं इधर के उधर न हो जायँ, अतः हाथ भी इच्छा पूर्वक नहीं परिचालित कर सकते। किसी की ओर नेत्र खोल कर इसलिए नहीं देखते कि कहीं कोई दृष्टिज्वाला से भस्मसात् न हो जाय। ऐसा, आधार के संकोच से, निराधार ही शिव का कष्टपूर्वक ताण्डव नृत्य तुम्हारी रक्षा करे।

आप की दान-शीलता लोक-त्रय में प्रसिद्ध है। बिना आगा-पीछा सोचे ही आप जिसे चाहे जो दे देते हैं। इसी से लोग आपको 'औघड़दानी' कहने लगे हैं। अन्य देव षोड़शोपचार पूजन कराने की इच्छा रखते हैं। फिर भी जरा सी भूल हुई कि सारा किया हुआ मिट्टी में मिल गया! पर हमारे भोलानाथ की बात निराली है! यहाँ, हर्रा लगे न फ़िटकरी, रंग चोखा। न षोड़शोपचार पूजन की आवश्यकता है, न पञ्चोपचार की। चुल्लू भर जल या दो-एक बेलपत्र चढ़ा दिये, छुट्टी मिली। इतनी ही सेवा पर प्रसन्न हो गये। आशुतोष ही ठहरे। यदि किसी भक्त ने चार अक्षत या धतूरे

---

[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-कृत पद्यानुवाद—

पाद-प्रहार सों नभ में पताल न भूमि सवै तनु बोझ के मारे।
हाथ नचाइवे सों नभ में इत के उत टूटि परैं नहिं तारे॥
देखन सों जरि जाहिं न लोक, न खोलत नैन कृपा उर धारे।
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत शर्व हरौ दुख सर्व तुम्हारे॥

का एकाध फूल भेंट कर दिया, तब तो कुछ पूछना ही नहीं—

सेवा सुमिरन पूजिबो, पात आखत थोरे।
दिये सबै जहँलौं जगत सुख, गज, रथ, घोरे॥

—तुलसी

मुफ़्त की पूँजी से करोड़पति बनना हो तो ऐसा मौक़ा बारबार हाथ आने का नहीं—

देव नर किन्नर अनेक गुन गावत, पै
पावत न पार जा अनन्त गुनपूरे को।
कहैं 'पद्माकर' सु गाल के बजावत ही,
काज करि देत जन जाचत जरूरे कौ॥
चन्द्र की छटानजुत, पन्नग-फटानजुत
मुकुट विराजै जटाजूटन के जूरे कौ।
देखो त्रिपुरारी की उदारता अपार, जहँ
पैये फल चार एक फूल दै धतूरे कौ॥

पद्माकर के साथ सुकवि सेनापति भी अपना स्वर मिला रहे हैं—

सोहत उतङ्ग जाकौ उत्तमङ्ग ससिसङ्ग,
गङ्ग गौरि अरधङ्ग काम प्रतिकूल है।
देवन कौ मूल 'सेनापति' अनुकूल करि,
चाम सारदूल कौ सदा कर त्रिशूल है॥
कहाँ भटकतु, अटकतु क्यों न तासों मन
जातैं अठ सिद्धि नव निद्धि रिद्धि तू लहै।
लेत ही चढ़ाइबे कों जाके एक बेल-पात
चढ़त अगाऊ हाथ चारि फल फूल है॥

एक-एक के चार-चार। कैसा बढ़िया रोज़गार है। शङ्कर की दानशीलता और उदारता देख कर ब्रह्मा घबरा गया। सोचने लगा, यदि सदा ऐसी फ़िज़ूलख़र्ची रही तो किसी दिन मेरे भाण्डार का दिवाला ही निकल जायगा। क्या करना चाहिये? शङ्कर को समझाना-बुझाना व्यर्थ है। पार्वती

के कान में इस सम्बन्ध की कुछ बात डाल देनी चाहिये। वही शिव के अपव्यय को रोक सकेंगी। यह निश्चय कर ब्रह्मा हाथ जोड़ पार्वती से कहने लगा—देवी! आपके पति, जान पड़ता है, पागल हो गये हैं। रात-दिन दान ही किया करते हैं। उन्होंने वेद की मर्यादा तोड़ दी है। चाहे जिसे जो देते हैं। यह अनधिकार दान देख लक्ष्मी और सरस्वती आपस में डाह करने लगी हैं। जिनके प्रारब्ध में मैंने सुख का नाम तक नहीं लिखा था, उन्हें आप के पतिदेव ने महान् समृद्धिशाली बना दिया है। इन्द्र भी आज उन जन्म-रंकों की सेवा करने जा रहा है! मेरा तो नाको दम आ गया। अब मुझ से सृष्टि का भार न सँभल सकेगा। यह उत्तरदायित्व कौन अपने सिर पर लेगा? मेरा अधिकार किसी कार्य-कुशल को सौंप दीजिये और मेरा त्याग-पत्र स्वीकार कीजिए। मैं भीख माँग कर ही पेट पाल लूँगा।

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, वेद बड़ाई भानी॥
निज घर की वर बात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिव की दई संपदा देखत, श्री सारदा सिहानी॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहीं निसानी।
तिन रङ्कन कौं नाक सँवारत- हौं आयौ नकवानी॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी॥
प्रेम-प्रशंसा-विनय-व्यंगजुत सुनि बिधि की बर बानी।
'तुलसी' मुदित महेस मनहिं मन, जगतमातु मुसुकानी॥

ब्रह्मा की यह व्यंगभरी विनती सुन महादेव मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। पार्वती भी मुसकराईं।

शिवजी सदा से ही साहित्य-रसिक हैं। आपके स्तोत्रों में रसों और अलंकारों का पूर्ण समावेश हुआ है। हास्य और व्यङ्ग का तो साम्राज्य है। जो आप पर जितना ही हँसता है उस पर आप उतना ही प्रसन्न रहते हैं। हैं तो विशुद्ध ज्ञान-विग्रह, पर बन जाते हैं भोलानाथ, मानों कुछ जानते ही

नहीं ! आप के भक्त आप के साथ मन-माना व्यवहार करते हैं । कोई गाल बजाता है, तो कोई कहता है, 'बम शङ्कर की !' सुना है गाल बजानेवालों का, गप्पें मारनेवालों का, कहीं भी आदर नहीं होता, पर यहाँ गाल बजानेवाले ही पूछे जाते हैं । उलटी गङ्गा बही है तो यहीं । आप स्वयं ही गाल बजाया करते हैं—

यह देखु, धतूरे के पात चबात औ गात में धूर लगावतु है ।
चहुँ ओर जटा अटकैं लटकैं फन शेषफनी फहरावतु है ॥
'रसखानि' जोई चितवै चित दै तिहि कौ दुखन्दुन्द भजावतु है ।
गज खाल, कपाल की माल बिसाल सो गाल बजावत आवतु है ॥

आचार्य भिखारीदास आप की कड़ी आलोचना करते हुए कहते हैं—

आक औ कनक-पात तुम जो चबात हौ तौ
पटरस व्यंजन न केहू भाँति लटिगो ।
भूषन बसन कीनो ब्याल, गजखाल कौ तौ,
साल सुवरन कौ न पैन्हिबो उलटिगो ॥
'दास' के दयालु हौ, सुरीति ही उचित तुम्हें,
लीनो जो कुरीति तौ तिहारो ठाट ठटिगो ।
ह्वैकैं जगदीश कीनो बाहन बृषम कौ तौ
कहा शिव साहेब ! गयंदनि कौ घटिगो ?

गङ्गा के अनन्य भक्त पद्माकर ने भी आप को ख़ूब खरी-खरी सुनायी है । देखिये—

लोचन असम, अंग भसम चिता की लाइ,
तीनों लोक नायक सों कैसे कैं ठहरतो ।
कहै 'पद्माकर' बिलोकि इमि ढङ्ग जाके,
वेद हूँ पुरान गान कैसे अनुसरतो ॥
बाँधे जटाजूट बैठि परवत-कूटि माहिं,
महाकालकूट कहो कैसेकैं ठहरतो ।

पीवै नित भंगै रहै प्रेतन के संगै, ऐसे,
पूंछतो को नंगै, जो न गंगै सीस धरतो ॥'

सुना सरकार, सिर पर गङ्गा न होती तो आप को कौन पूछता ! भला किया मातेश्वरी। तुम्हारी बदौलत बेचारे नंगधुड़ङ्ग की मान-प्रतिष्ठा तो होने लगी। वास्तव में, तुम सुधामयी हो। तुम्हारे ही बल-भरोसे शिव आक और धतूरा चबाया करते हैं—

एरी सुधामयी भागीरथी ! नहिं रोग रहै तन में तुव पोसें।
आक धतूर चबात फिरै, विष खात फिरै सिव तेरे भरोसें ॥

नंगे की, वास्तव में, कोई इज्जत नहीं करता। समुद्र ने विष्णु को, पीताम्बर आदि सुन्दर वस्त्र धारण किये देख कर, अपनी दुहिता इन्दिरा सौंप दी और शिव को दिगम्बर देख केवल हलाहल दिया !

पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ तनूजां दिगंबरं वीक्ष्य विषं समुद्रः।

× ×

भोला बाबा का तनिक ध्यान तो कीजिए। वटवृक्ष के नीचे दिगम्बर विराजमान हैं। आसन का काम व्याघ्र-चर्म दे रहा है। गज-चर्म भी वहीं पड़ा है। समस्त शरीर पर भस्म चढ़ाये हैं। कुन्द के सदृश शुभ्र कलेवर की कमनीय कान्ति दिप रही है। विषज्वाला से कंठ नीला देख पड़ता है। गले में मुँडमाला पड़ी है। हृदय पर सर्पों का हार धारण किये हैं। कंकण, केयूर और कुंडल भी सर्पों के ही हैं। भालस्थली में जान्हवी-रेखा के समान मयंक-

---

'श्री शङ्कराचार्य जी का भी इसी आशय का एक श्लोक है। अन्तर यही है कि उसमें गंगा के स्थान पर पार्वती को प्रधानता दी गयी है। वह यह है—

वृषो वृद्धो यानं विषमशनमाशा निवसनं,
श्मशानं क्रीड़ाभूर्भुजगनिवहो भूषणविधिः।
समग्रा सामग्री जगति विदितैव स्मररिपोः,
यदेतस्यैश्वर्यं तव जननि ! सौभाग्य-महिमा ॥

कला, प्रलयकारी तृतीय नेत्र एवं त्रिपुण्ड शोभित हो रहा है। मौलि पर जटा-जूट बँधा है। गङ्गा की धवल धारा धीरे-धीरे अभिषेक कर रही है। एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में डमरू लिये हैं। इस डमरू से 'अइउण' आदि माहेश्वर सूत्रों का प्राकट्य हुआ है। वामाङ्क में अर्द्धांगिनी पार्वती विराज रही हैं। आँगन में गजानन और षड़ानन खेल रहे हैं। एक ओर सींगवाला बैल खड़ा है, दूसरी ओर सिंह। मोर पङ्ख फुलाये नाच रहा है। चूहा इधर-उधर दौड़ लगा रहा है। भङ्गी, शृङ्गी नन्दी आदि गण अपनी-अपनी सेवा में तत्पर खड़े हैं। कैसी बाँकी झाँकी है!

समस्त ध्यान सार्थक है। चन्द्रमा के दर्शन से जीव का सांसारिक संताप शमन हो जाता है। भभूत की कृपा से विभूति प्राप्त हो जाती है। तृतीय नेत्र सांसारिक वासनाओं को नष्ट कर देता है। और गङ्गा जगत्तारिणी हैं ही। भिखारीदास कहते हैं—

भाल में जाके कलानिधि है, वह साहिब ताप हमारौ हरैगो।
अङ्ग में जाके विभूति भरी, वह भौन में संपति भूरि भरैगो॥
घातक है जो मनोभव को, मन-पातक वाही के जारे जरैगो।
'दास' जो सीस पै गङ्ग धरें रहै, ताकी कृपा कहु को न तरैगो॥

दे तो डालते हैं त्रिलोक की भी संपत्ति, पर घर में भूँजी भाँग भी नहीं। दिन भर भीख माँगते हैं, तब संध्या को कहीं पार्वती से रसोई बनवाते हैं। भोजन करने को वर्तन तक हैं नहीं। कपाल में लेकर खाते हैं! सोने को खटिया भी नहीं। घरवाले तो मौज़ ही में रहते हैं, पर इन्हें स्मशान सेवन ही बदा है! वहाँ सद्य शवों का भस्म मिल जाता है न!

इनका यह सब रहन-सहन देख कर इनके साथ अपनी कन्या व्याह देने का किसी सूझते को सहसा साहस नहीं पड़ता था। न जाने पार्वती ने क्यों एक से एक सुन्दर और ऐश्वर्यवान् वर छोड़ कर इस ठूँठ (स्थाणु) को पसन्द किया! जब आप दूलह बन कर, सज-धज के साथ, महाराज हिमांचल के यहाँ बारात ले गये, उस समय की शोभा अपूर्व थी—

सिवहि सम्भुगण कियो सिंगारा। जटा मुकुट अहि-मौर संवारा ॥
कुण्डल कङ्कड़ पहिरे ब्याला। तनु विभूति, कटि केहरि छाला ॥
गरल कंठ, उर नर सिर माला। असिव वेष, सिवधाम कृपाला ॥
कर त्रिसूल अरु डमरू विराजा। चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा ॥

बने-ठने दूलह को देख विष्णु से न रहा गया। बोले—

बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई ॥

विष्णु का समाज अलग हो गया और शिव की पार्टी अलग। बैल पर सवार थे ही। भूत, प्रेत और पिशाच साथ-साथ चलने लगे। अब, सब ठीक बन गया— .

जस दूलह तस बनी बराता। कौतुक विविध होहिं मग जाता ॥

नख से शिख तक वर की शोभा देख पार्वती की माँ घबरा गयीं— 'मेरी पार्वती कुँवारी भले ही रहे, पर इस पगले के हाथ मैं अपनी दुलारी पुतली को न सौंपने दूँगी।'

शिवजी ने मन-ही-मन कहा, अब तो बड़ी फ़जीहत हुई। लोग क्या कहेंगे! अपना-सा मुँह लिये क्या योंही कैलाश लौट जाना पड़ेगा? देखते-देखते आप कैशोर्य-लावण्य-संपन्न शृङ्गार-मूर्ति बन गये। हिमांचल ने नित्य-किशोर मन्मथ मथन शिव के साथ पार्वती का पाणिग्रहण कराया। मंगल-विनोद के साथ विवाह हो गया। कैलाश आने पर फिर वही वेशभूषा, वही रहन-सहन; वही रँग ढँग, वही चाल-ढाल। जो प्रकृति से ही त्यागी हैं, उनके लिये जैसा संन्यास, वैसा गार्हस्थ्य।

आपके दो विचित्र पुत्र उत्पन्न हुए। एक गजानन, दूसरे षड़ानन। गणेश को तो कोई काम-काज है नहीं। शुभ अवसर पर आवाहन करने पर पहुँच जाना और मज़े में लड्डू उड़ाना। अब रहे षड़ानन। वह देवताओं की सेना के प्रधान सेनापति बनाये गये। लड़कों से छुट्टी मिली। सच पूछिये तो सारी गृहस्थी का भार अन्नपूर्णा पार्वती पर है। यदि पार्वती न होतीं, तो समझ पड़ता कि गृहस्थी कैसे चलानी होती है। आप स्वयं तो कुछ करते धरते हैं नहीं और घर का ख़र्च कितना है, सो सब जानते ही हैं। पाँचमुख

आपके, छह मुख एक लड़के के और हाथी जैसा मुख दूसरे पुत्र का ! भला सोचिये तो, कितनी खाद्य सामग्री ख़र्च होती होगी !

स्वयं पंचमुखः, पुत्रौ गजानन-षडाननौ ।
दिगम्बरः कथं जीवेदन्नपूर्णा न चेद्गृहे ॥

अब, ज़रा भूतनाथ की पशु-शाला पर दृष्टि-पात कीजिए । भूखा साँप गणेश-वाहन मूषक को खा जाना चाहता है, और षड़ानन का मोर साँप को लपकने दौड़ता है । इधर पार्वती का सिंह हाथी समझ गणेश पर टूटा पड़ता है । बेचारा बैल डर के मारे आप ही प्राण छोड़े देता है । कोतवाल भैरव का कुत्ता अलग ही भों-भों कर रहा है । अब पशुपति क्या करें, क्या न करें ।

बारबार बैल कौ निपट ऊंचो नाद सुनि
हुँकरत बाघ विरुझानों रस-रेला में ।
'भूधर' भनत ताकी बास पाइ, सोर करि
कुत्ता कोतवाल कौ बगानो बगमेला में ।
फुंकरत मूषक कों दूषक भुजंग तासों
जंग करिवे कों भुक्यो मोर हद हेला में ।
आपस में पारषद करत पुकारि कछू
रारि-सी मची है त्रिपुरारि के तबेला में ॥

एक और बखेड़ा मचा रहता है । मस्तक पर गङ्गा और चंद्रकला को देख पार्वती सौतिया डाह के मारे मरी जाती हैं । चंद्रमा भी बेचारा ललाट-लोचन की प्रचण्ड ज्वाला नहीं सहन कर सकता, मारे कष्ट के वह भी मन-ही मन कुढ़ता है । यह सब नित्य का झगड़ा—कौटुम्बिक-कलह—देख जब शिव से न रहा गया, तब आँख मूँद कर हलाहल पीने को तयार हो गये—

गौरी जन्हुसुतामसूयति कलानाथं कपालाननो,
निर्विण्णःस पपौ कुटुम्ब कलहादीशोऽपि हालाहलम् ।

विष पीते तो पी लिया, पर ज्यों ही यह ध्यान आया कि हृदय में तो आराध्य देव रामचन्द्रजी का वास है, इस विषम विष की ज्वाला से उनको,

था ! कामान्ध हो मदन-मोहिनी मोहिनी के पीछे-पीछे कुसुम कन्दुक उठाने के लिये कौन दौड़ रहा था ? उस समय जगद्गुरो ! आपकी लोक-लज्जा कहाँ चली गयी थी ? आपकी यह चेष्टा देखकर पार्वती भी एक ओर खड़ी हँस रही थीं। ज्ञात होता है, अनंग ने ही अपने पूर्व वैर का बदला चुकाने के लिये आप का व्रत भंग करने की चेष्टा की थी।

उमा-रमण ! आपकी लीला अवाङ्मनसगोचर है। आपको कौन क्षुब्ध कर सकता है ? मोहिनी पर मोहित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं ! मोहिनी प्राकृत स्त्री न थी, साक्षात् विष्णु थे। आप विष्णु पर और विष्णु आप पर मोहित हैं, दोनों एक दूसरे के उपास्य हैं, इष्ट हैं। हरि-हर का सदा से चोली-दामन का सम्बन्ध है। वास्तव में आप दोनों एक ही हैं, केवल प्रकृति भेद है। हरि और हर, दोनों शब्दों की प्रकृति (धातु) एक ही है, केवल प्रत्यय-भेद से दो शब्द बन गये हैं। 'हृ' धातु हरण अर्थ में आती है। उसमें दो भिन्न प्रत्यय लगाने से हरि और हर शब्द सिद्ध हुए हैं। व्याकरण से हरि-हर की यही व्युत्पत्ति है। यों भी हरि और हर दोनों ही माया से परे यही शुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप हैं, दोनों की प्रकृति एक ही है। प्रत्यय अर्थात् भक्तों के विश्वास-भेद से भिन्न-भिन्न रूप प्रतीत होते हैं। किन्तु जो मूर्ख, बिना शास्त्र ज्ञान के, हरिहर में वास्तविक भेद समझते हैं, वह अपना विनाश स्वयमेव कर रहे हैं। गोसाईं तुलसीदास प्रकृत्या आप दोनों में भेद नहीं मानते थे—

रुचिर हरिशंकरी-नाम-मंत्रावली द्वन्द्-दुख-हरन आनन्दखानी।
विष्णु-शिव-लोक-सोपान समसर्वदावदति 'तुलसीदास' विसद बानी।

इसी 'हरिहरैक्य' के सम्बन्ध में यम ने एक बार अपने दूतों से कहा था कि जो कोई विष्णु अथवा शिव, किसी का भी मरण-समय, नाम लेता हो, उसे छोड़ देना, नर्क में न लाना—

विष्णो ! नृसिंह ! मधुसूदन ! चक्रपाणे !
गौरीपते ! गिरीश ! शंकर ! चंद्रचूड़ !

नारायणासुरनिबर्हण ! शाङ्र्गपाणे !
त्याज्या भटाय इति संतत मामनन्ति ॥

अस्तु ! आप ही मोहिनी हैं और आप ही मोहन। भक्तों की रुचि के अनुसार आप, अप्राकृत होकर भी, प्राकृत लीला करते हैं।

जगद्गुरो ! आप हमारी एक मनस्कामना पूरी कर देंगे ? लालसा है कि आप की मुक्ति-भूमि काशी में रह कर आप से कुछ पढ़ें। हमें व्याकरण, न्याय वा वेदान्त नहीं पढ़ना है, हमें पंडित या शास्त्री बनने की इच्छा नहीं। सुना है, आप 'राम-नाम' पढ़ाने में एक ही हैं। कृपाकर वही तारक मंत्र पढ़ा दीजिए—

पढ़ी और विद्या, गई छूटि न अविद्या; जान्यौ
अछरु न एक घोख्यौ कैयो जनमनु है।
तातें कीजै गुरु जाइ जगतगुरु कौं, जातें,
ग्यान पाइ जीव होतु चिदानंदघनु है॥
मिटत है काम क्रोध ऐसो उपजतु बोध,
'सेनापति' कीनौं सोध कह्यौ निगमनु है।
बारानसी जाइ मनिकरनी अन्हाई मेरो
शंकर तें रामनाम पढ़िवे कौं मनु है॥

क्योंकि आप स्वयं ही कह रहे हैं—

अहो भवन्नाम गृणन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मंत्रम् तव रामनाम॥

काशी को मुक्ति की जन्म-भूमि इसी कारण से माना है कि वहाँ आप पतित से भी पतित जीव को तारक मंत्र का उपदेश कर संसार-सागर से तार देते हैं—

एक और कामना है—

तद्वर्चनान्तसमये तव पादपीठ
मालिन्य निर्भरसभंगुर भक्तिभाजः।

निद्रानिभेन विनिमीलितलोचनस्य
प्राणाः प्रयान्तु मम नाथ तव प्रसादात् ॥

—जगद्धर भट्ट

आशुतोष ! किसी दिन ऐसा कीजिये कि जब मैं, अर्चन के अनन्तर, आप के चरण रखने की चौकी का आलिंगन करूँ, तब मुझे नींद-सी आने लगे और मेरी आँखें बन्द हो जायँ। हे वरद ! बस उसी समय मेरे प्राण शरीर छोड़ दें। यह आपके कृपा-कटाक्ष से ही संभव है। इतना मेरे लिये क्या कम सौभाग्य की बात है ?

एक सुन्दर भाव पूर्ण षट्पदी देकर यह निबंध समाप्त करता हूँ—

प्रणव बीज मनु अज अनादि परमान परम पर,
नीलकंठ निरुपम न कार निरगुन निरीह तर।
महादेव मनुमय मकार श्रुति-सार ब्रह्मवर,
शिव सकार साकार सनातन नमो-नमो हर ॥
वेदान्त वेद सुविचारमय वामदेव विज्ञानमय।
जय जय यकार यज्ञाधिपति; अविनासी कासीस जय ॥

—कस्यचित्कवेः

ॐनमः शिवाय

व्रज-मण्डल

व्रज-मण्डल का वर्णन प्रारम्भ करने के प्रथम व्रज-दूलह का यह सुन्दर चित्र हृदय-पटल पर अङ्कित कर लेना आवश्यक समझता हूँ—

पाँयनि नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिन में धुनि की मधुराई।
सांवरे अङ्ग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई ॥
माथे किरीट, बड़े दग चंचल, मन्द हँसी मुखचंद-जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक, सुन्दर श्रीव्रज-दूलह 'देव' सहाई ॥

× × ×

भुवन-विदित यह जदपि चारु भारत-भुवि पावन ।
पै रसपूर्न कमंडल व्रज-मंडल मन-भावन ॥

रसिक-रत्न सत्यनारायण व्रज-मण्डल को रसपूर्ण कमण्डल लिख कर अपनी साहित्य-रसिकता का पूर्ण परिचय दे गये हैं । व्रजमण्डल वास्तव में रसागार है । "व्रज"—ये दो अक्षर सत्य ही अक्षर हैं, अविनाशी हैं । व्रज की महिमा अनन्त और अनादि है । एक तो यों ही पवित्रगो-भूमि और फिर श्रीकृष्ण-जन्म स्थल । सोने में सुगन्ध । यहाँ श्रीकृष्ण के दर्शन-लाभ के अर्थ जीव आते हैं, इसी कारण इस प्रान्तका नाम 'व्रज' पड़ गया है ।

'व्रजन्त्यस्मिन् जना कृष्ण प्राप्त्यर्थमिति व्रजः ।'

व्रज शब्द की और भी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं, किन्तु हमें शब्दाडम्बर के रूखे-सूखे पचड़े से कोई प्रयोजन नहीं । हमें तो व्रज की अलौकिक रस-निधि लूटनी है, अक्षरों की खटपट में नहीं पड़ना है । कोरी खटपट में पड़ें अभागे 'घटपट' बकने वाले नैय्यायिक या रट्टू-टट्टू वैय्याकरणी ।

आइये, व्रजमण्डल के कुछ सुरम्य दृश्यों को देखें । नन्दगाँव बरसाने की ओर चलें । अस्तुतः व्रज का केन्द्र यही है । गह्वर की सघन कलित कुञ्जों में भ्रमरों का गुञ्जार, मोरकुटी के आस-पास मोरों का विहार, गो-समूह का स्वच्छन्द विचरण, रसालों पर कोकिल की कुहू कुहू मन को हठात् आकृष्ट कर रही हैं । लहलही विनत लताएँ व्रज-रज को अपने कर-पल्लवों से उठा उठाकर मस्तक पर चढ़ा रही हैं । पेड़ों की डालें भी रज पर लेट लगा रही हैं । बड़ी सघनता है । यहाँ हो कर जाना कठिन है । लतामण्डप के व्याज से विधाता ने कहीं यह रस-जाल तो नहीं फैला रखा है ? इसमें बिना फँसे अछूता निकल जाना हँसी-खेल नहीं । करील की छटा तो निराली है । इसमें तनिक भी शील नहीं । सुनो, एक गोपाङ्गना क्या शिकायत कर रही है—

अपत कँटीली डार यह उरझावै मो चीर ।
कैसे कैं निकसौं अरी यहै बड़ी बेपीर ॥

इन सघन कुंजों में बारह मास बसंत छाया रहता है । जान पड़ता है, प्रगल्भा प्रकृति सुन्दरी ने अपने षोडश शृङ्गार की समग्र सामग्री इसी कानन

में संपुटित कर रखी है। श्रृङ्गार और शान्त रस का सम्मेलन हुआ है, यहीं प्रभात-प्रभा ने जीवन-ज्योति जगायी है। यहीं शरद-शर्वरी ने सुधाभिषेचन किया है। नन्दगाँव-बरसाना पुरुष-प्रकृति की लीला-स्थली है, इसमें संदेह नहीं।

× × ×

जय यमुने। कहा! श्याम-रसोन्मादिनी श्याम यमुना कैसी मत्तगयन्द-गति से बह रही है! शीतल मन्द सुगंध समीर ने रसाचार्य जयदेव के इस पद का स्मरण करा दिया है—

धीरे समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली।

चलो कालिन्दी-कूल पर इन रमणीय कुंजों में घड़ी दो घड़ी विश्राम कर लें फिर आगे बढ़ें। तरंगावली पर बैठ कर मानों वह चंचल चित्त थिरका चाहता है। क्या ही मनोमुग्धकारी कलकल-निनाद है! यह रमण-रेत रजत-चूर्ण के सदृश कैसी बिछी हुई है!

जी चाहता है, वस्त्र उतार कर इस पर ख़ूब लोट लगायें। इस रज के स्पर्शमात्र से ही एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है।

यह रज मुक्ति को भी मुक्त करनेवाली है।

मुक्ति कहै गोपाल सों, मेरी मुक्ति बताय।
ब्रज-रज उड़ि मस्तक लगै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय॥

धन्य है उन सर्वत्यागी अनन्य भक्तों को, जो सदा ही ब्रज की इस विरज रज पर रमते हुए भाव-मग्न रहा करते हैं। हम पामरों को यह सुख कहाँ!

धन्य कलिंद-नंदिनि! तुमने क्या-क्या नहीं देखा-सुना! तुमने रास-विहार देखा; ब्रजवल्लभ की वंश-ध्वनि सुनी; विरहिणी ब्रजाङ्गनाओं के संतप्त आँसुओं से अपने हृदय को रँगा और भारतवर्ष के कई युगों का इतिहास अपनी श्याम धारा से अंकित किया। सैकड़ों कवियों ने तुम्हारी महिमा गायी, सहस्रों पापियों ने तुम्हारे जल से अपना पाप-पंक पखारा और लाखों प्राणियों को तुम्हारे तट पर जीवन-दान मिला! धन्य, यह तरंगावली!

कैधौं अंधकारु-कृत अखिल अगारु चारु,
कैधौं रसराज की मयूखैं मंजु जाकी हैं ।
कैधौं स्याम-विरह-वियोगिन के नैन ऐन,
कज्जल कलित जलधारैं धार ताकी हैं ।।
'ग्वाल' कवि कैधौं चतुरानन के लेखिवे कौ,
फूट्यौ मसि भाजन, अनूप छवि वाकी हैं ।
कैधौं जल स्वच्छ में प्रतच्छ जल-झाईं, कैधौं,
तरल तरंगैं मारतंड तनया की हैं ।।

इन तरङ्गों को कौन भूल सकता है ?

जमुना बिसारिहै तौ जमु ना बिसारिहै
जो जमुना सँभारिहै तौ जमु ना सँभारिहै ।।

× × ×

कदम्बखण्डी का कैसा सुन्दर दृश्य है ! दूर तक कदम्ब-ही-कदम्ब देख पड़ते हैं ।

कदँब-कुञ्ज ह्वैहौं कवै, श्रीवृन्दावन माहँ ।
'ललितकिसोरी' लाड़िले विहरैंगे तिहि छाहँ ।।

क्या हम भी कभी कभी ऐसा मनोराज्य करेंगे ? धन्य वे महाभाग जो सदा इस कदम्बखण्डी में विचरा करते हैं, मधुकरी भिक्षा से ही संतुष्ट रहते हैं, यमुना-जल चुल्लू में भर-भर कर पीते हैं और "राधाकृष्ण, राधाकृष्ण" जपते हुए आनंदाब्धि में डूबे रहते हैं !

× × ×

यह गिरिराज गोवर्द्धन है । गिरिराज की शोभा देखते ही बनती है । नन्दनदन ने इसी पर्वत को धारण कर गौओं और गोपों रक्षा की थी । रसिक रसखानि तो गिरिराज की शिला भी होने में अपना अहोभाग्य समझते हैं—

"पाहन हौं तो वही गिरि कौ, जो धर्यौ कर छत्र पुरंदर-धारन ।"

जहाँ-तहाँ संत-महात्माओं की कुटियाँ बनी हैं । गायें अपने बछड़ों को दूध पिला रही हैं । मोर नाच रहे हैं । कृष्ण-प्रेमोन्मत्त व्रजवासी गिरिराज की

परिक्रमा देते हुए 'बोल श्रीराधे' की ध्वनि लगा रहे हैं। बंगाली वैष्णव भी 'हरि बोल, हरि बोल' कहते चले जा रहे हैं। इनका कीर्तन पाषाणहृदय को भी आर्द्र कर रहा है। यहाँ एक नहीं, अनेक घटाएँ छायी हुई हैं। इधर सघन कुञ्जों की हरी-हरी घटा, तो उधर बादलों की श्याम घटा। कहीं रूप की घटा, तो कहीं प्रेम की घटा। एक ओर बने-ठने गोपों की घटा तो दूसरी ओर छबीली-रँगीली गोपियों की घटा! एक और घटा है। वह कौन? भारतेन्दुजी बतलावेंगे। सुनिये—

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

फिर भी, रसिकवर्य भारतेन्दु! तुमने उस अपूर्व घन-घटा को गुप्त ही रखा। धन्य!

कविवर बिहारी ने भी एक दोहे में इस घटा का वर्णन किया है। ब्रज में जब कभी यह घन-घटा दिखाई देती थी, मोर उमंग में नाच उठते थे। गोपियों को पहले तो भ्रम हो जाता था, पर पीछे वे ताड़ जाती थीं कि हो न हो, इस ओर से हमारे प्यारे श्यामसुन्दर आ रहे हैं। उन्हीं के शरीर की नीलकान्ति को देख कर मयूरों को घन-घटा का भ्रम हो गया है।

नाचि अचानक ही उठे, बिनु पावस वन-मोर।
जानति हौं नन्दित करी, यह दिसि नंदकिसोर॥

वह घटा यह है। पर, यह घटा हर एक नहीं देख सकता। इस घटा की झलक तो उन्हीं परम विरहीजनों को मिलती है जो दिन-रात मानस के श्रावण में मूसलाधार से भीगा करते हैं।

यह पावस, यह घटा, यह वर्षा श्रीगोपांगनाओं के ही भाग्य में थी। भक्त-श्रेष्ठ नारद ने अपने "भक्ति-सूत्रों" में "यथा व्रज-गोपिकानाम्" लिख कर इस सिद्धान्त की पुष्टि की है।

× × ×

अब वृन्दावन का दर्शन लेना चाहिए। यही श्रीकृष्ण की विहार-भूमि है। इसी को गोलोकधाम कहते हैं। वास्तव में, यह भूमि दिव्य है, अप्राकृत

है, अनुपम है। आज भी यहाँ के अणु-परमाणु में रास-रस झलक रहा है—

सघन कुञ्ज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जातु अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥
—बिहारी

इसमें सन्देह नहीं, कि वृन्दावन के आगे वैकुण्ठ भी कोई चीज़ नहीं। पूछो तो, ये सघन कुंजें, ये ललित लताएँ, यह कालिन्दी-कूल, यह वन-विहार वैकुण्ठ में कहाँ? बहुत होगा, तो एक कामधेनु, दो-चार कल्पतरु या दस-पाँच चिन्तामणियाँ। यहाँ तो घर-घर कामधेनु को मात करनेवाली गायें बँधी हैं, कुंज-कुंज में करील और कदम्ब कल्पवृक्षों से होड़ लगा रहे हैं, गली-गली में रज-कण चिंतामणियों को निष्प्रभ कर रहे हैं। वहाँ सन्नाटा खींचे ध्रुव-सरीखे भगत एक ही स्थान पर आसन जमाये सड़ रहे हैं, यहाँ ग्वाल-गोपाल रसिया और धमार गाते तथा वंशी और डफ बजाते हैं। वहाँ लोग सुधा-पान कर मंदाग्नि कर बैठे हैं, यहाँ जब देखो तब दही-पेड़े और माखन-मिश्री उड़ रही है। यहाँ शंख फूँका जाता है, तो यहाँ त्रिलोक-मोहिनी वंशी की स्वर-लहरी लहरा रही है। वंशी! जगत् में तू ही एक सुहागिनी है—

कौन कियो तप बाँसु की बाँसुरी।
पान करै हरि को अधरामृत
—रघुराजसिंह

कौन ऐसी ब्रजबाला है जो तेरे अधीन न हुई हो?

किती न गोकुल-कुलबधू, काहि न किन सिख दीन।
कौनैं तजी न कुल-गली, ह्वै मुरली-सुर लीन॥
—बिहारी

कुल-गली आप ही छूट जाती है। यहाँ तो लाचारी है—

वह बाँसुरी की धुनि कान परैं कुल-कानि हियौ तजि भाजति है।
—रसखानि

यही कारण है कि तुझे प्रेमातुरा गोपिकाओं ने सैकड़ों गालियाँ दी हैं। कुल-कानि छुड़ाने के अभियोग में तो यह कारण उपस्थित किया गया है—

ज्यों बड़े बंस तें छूटी है त्यों बड़े बंस तें औरनहूँ को छुड़ावति।

हाँ, वैकुण्ठ और वृन्दावन की तुलना हो रही थी। वहाँ चार हाथ-वाले ठाकुर, विष्णु भगवान्, बेचारी लक्ष्मी से दिनरात पैर दबवाते हैं, और यहाँ आप ही श्रीनिकुंजेश्वरी राधिका के चरण-कमलों का सेवन करते हैं।

वेद भेद जानैं नहीं, नेति नेति कहैं बैन।
ता मोहन सों राधिका, कहै महावरु दैन ॥
मनु मार्‌यौ केते मुनिन, मनु न मनायौ आइ।
ता मोहन पै राधिका, मान गहावति पाइ ॥

सारांश यह कि जो सुख, जो रस वृन्दावन में है उसका शतांश भी वैकुण्ठ में नहीं।

कहाँ वह वृन्दावन कहाँ जमुना के कूल,
　　गुञ्जन के हार फूल गहनौ बनायबो।
बहु विधि खेलि नंदलाल सङ्ग सङ्ग सदा,
　　आनंदमगन ह्वै कैं मुरली बजायबो ॥
घननि की घोर, पिक मोरनि की सोर कहाँ,
　　बंसीवट-तट गाय हेरि दै बुलायबो।
ब्रज सुख छायो चलु 'नागर'[1] लुभायौ मन,
　　हमको न भायौ यहाँ वैकुण्ठ कौ आयबो ॥

एक बार श्रीकृष्ण अपनी मित्र-मण्डली को वैकुण्ठ की सैर कराने ले गये। वहाँ की दशा देख कर गँवार ग्वाल घड़ी भर भी न ठहर सके। बोले—"भैया! छाँड्यो तिहारो वैकुण्ठ! हम सबनि कूँ तौ अपनो गाम ही नीको लागै है।" वैकुण्ठ में कभी किसी तरह का कोई राग रंग तो होता ही न होगा। वहाँ होली का उत्सव कौन मनाता होगा!

देवन की औ रमापति की दोउ धाम की वेदन कौन बड़ाई।
संख ऽरु चक्र गदा पुनि पद्म सुरूप चतुर्भुज की अधिकाई ॥

---

[1]महाराज नागरीदास।

अमृत-पान विमानन बैठिबो 'नागर' के जिय नैक न भाई ।
स्वर्ग बैकुण्ठ में होरी जो नाहि तौ कोरी कहा लै करै ठकुराई ॥

होली के रसिया भला धोंधा देवता क्या जानें ? यह रस तो ब्रजवासियों के ही भाग्य में है। ब्रजधाम के समान त्रिलोक में दूसरा धाम नहीं। इसी भूमि पर नीरस निरञ्जन सरस रसिकेश्वर हुए हैं। परमेश्वर के सुन्दर-सुन्दर नाम यहीं रखे गये हैं। पहले भगवान् के निराकार, निरञ्जन, निरीह, निरवयव, निर्विकार, अव्यक्त, ब्रह्म आदि अंट संट नाम थे। अब ब्रज-सम्बन्ध के नाम सुनिए— कन्हैया, नन्दनन्दन, माखनचोर, राधारमण, कुञ्जविहारी, ब्रजवल्लभ, चन्द्रावली-चकोर आदि। कितना अन्तर है !

ब्रज सम और कोउ नहिं धाम ।
या ब्रज में परमेसुरहू के, सुधरे सुन्दर नाम ॥
कृष्ण नाम यह सुन्यो गर्ग सें 'कान्ह कान्ह' कहि बोलैं ।
बाल केलि-रस मगन भये सब, आनँद-सिन्धु कलोलैं ॥

—नागरीदास

मधुरता-ही-मधुरता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य कहते हैं—

गोपा मधुरा, गावो मधुरा, यष्टिर्मधुरा, सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं, फलितं मधुरं, मधुराधिपतेरखिलं मधुरं ॥

कर्कशता का तो कोई नाम तक नहीं जानता। कहाँ कृष्ण, कहाँ कन्हैया ! कहाँ अव्यक्त और कहाँ गोपाललाल ! कहाँ निरवयव और कहाँ नवकिशोर ! ब्रज की गालियाँ भी श्रुति-मधुर हैं। ब्रजभाषा देवभाषा से कहीं अधिक मधुर है। सूर और हित हरिवंश के पद, बिहारी और रहीम के दोहे, देव, मतिराम और रसखानि के कवित्त इसी रस-रत्नाकर के रत्न हैं। जिसे ब्रज-साहित्य में आनन्द नहीं मिला वह कविता-रस के पास ही नहीं गया। इस भाषा की मधुरता कौन कह सकेगा ?

बरनन को करि सके भला तिहि भाषा कोटी,
मचलि-मचलि माँगी जामें हरि माखन-रोटी ?

—सत्यनारायण

मेरी तुच्छ सम्मति तो इस पीयूष-वर्षिणी भाषा पर यह है—

हमारे ब्रज-बानी ही वेद।
भाव-भरी या मधु बानी कौ नायँ मिल्यौ रस भेद ॥
निगमागम-कृत शब्द-जाल में वा सुख की कहँ श्रास।
जो सुख मिलत चाखि ब्रज-पद-रस, सौंश्री सहज मिठास ॥
जा बानी में मचलि कन्हैया कहै महरि सों रोय।
"ना, मैया, अबहीं मँगाय दे चन्द खिलौना मोय ॥"
जा बानी में जसुमति रानी हरि सों कहति रिसाय।
"दारी कौ इत-उत भाजै है, दीनो मोय थकाय ॥"
जा बानी में कहैं छबीली छोहरियाँ इठलाय।
"पाँय काँकरी गड़ै साँकरी खोर, माय री माय ॥"
जा बानी में अष्टछाप सुभ थापी बल्लभ-नन्द।
प्रेम-प्रवाहित कियौ चराचर, दियौ सबै रसकन्द ॥
जा बानी में बन बिहार कौ गायौ रस हरिदास।
हित हरिबस कियौ नितजामें हित कौ पन्थ प्रकास ॥
जा बानी की कलित कुञ्ज में कविता करति बिहार।
जावै 'हरि' वा ब्रज-बानी पै बलि-बलि सौ सौ बार ॥

× × ×

ब्रज-सरोज का मकरन्द पान करने के लिए न जाने कहाँ-कहाँ से रसिक भ्रमर नहीं आये, किस-किस ने यहाँ के माधुर्य्य-मुकुल पर गुञ्जार नहीं किया। कवि-कोकिल जयदेव और विद्यापति, प्रेमावतार चैतन्य देव और वल्लभाचार्य, यहीं के वासन्ती सौरभ से प्रेमोन्मत्त हुए। अद्यावधि ब्रज-विहारी का वर्णन अगणित महात्माओं और कवियों ने किया, फिर भी यह अतुल रस भण्डार पूर्ववत् ही परिपूर्ण रहा। सहृदयजन जितना ही इस ब्रज-साहित्य का अनुशीलन करते हैं, उतना ही नव्य आनन्द उन्हें प्राप्त होता है।

यदि ब्रज, ब्रजवल्लभ और श्रीराधिका का आधार न होता तो कवि लिखते ही क्या? क्या निराकार निर्गुण ब्रह्म का रोना रोते? साहित्य-सागर

सूख कर मरुस्थल हो जाता, रस का पता ही न चलता। सूझ और उपज पर दुर्भिक्ष पड़ जाता। अधिक क्या, वाग्देवी ही मूक हो जाती। यह रस सभी ने पान किया; फिर भी जूठा न हुआ, अनूठा ही रहा।

भारतखण्ड की सुकवि-मण्डली बरनतहू न अघात।

—व्यास

अघाना कैसा?

राम-कथा जे सुनत अघाहीं। रस-विशेष पावा तिन नाहीं॥

—तुलसी

श्रीकृष्ण के वात्सल्य रस का आस्वादन करना हो, मोरमुकुट, वनमाल, मुरली, लकुटि और काली कामरी की छटा देखनी हो, रास-विहार का सुख लूटना हो या गोपियों के विरहाश्रुओं से कलुष-कालिमा धोनी हो, तो जाओ, ब्रजभाषा के सजीव साहित्य का परिशीलन करो। इस साहित्य को न केवल हिन्दुओं ने ही अपनाया, वरन् कई मुसलमानों ने भी इससे मज़ा उठाया है। बादशाही वंश की ठसक छोड़ देनेवाले रसिक रसखानि वृन्दावन-विहारी की बाँकी अदा पर फ़िदा हो, सुनो, क्या कह रहे हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि कौ सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं॥
'रसखानि' कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बनबाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हौं कलधौत के धाम करील की कुञ्जन ऊपर वारौं॥

जिसने यह रस पा लिया, उसे मोक्ष की चाह नहीं। यहाँ अर्थ, धर्म और काम ब्रजवासियों की टहल किया करते हैं। मजूरिन मोक्ष पानी भर दिया करती है। कर्म और धर्म दोनों रस्सी बटा करते हैं। बेचारे ब्रह्मज्ञानियों से छप्पर छवाने की बेगार ली जाती है!

चार पदारथ करत मँजूरी, मुक्ति भरै जहँ पानी।
कर्म धर्म दोउ बटत जेवरी, घर छावैं ब्रह्मज्ञानी॥

—व्यास

प्रेम के आगे नेम की कुछ नहीं चलती। भक्ति केसामने ज्ञान निस्तेज हो जाता है।

यहाँ बड़े-बड़े ज्ञानी ध्यानी क्षणमात्र में मूँड़ लिये गये हैं। जो एक बार भी व्रज का पुनीत दर्शन कर लेगा, वह आजीवन यहाँ के अलौकिक आनन्द को न भूलेगा। और की तो बात ही क्या, द्वारका चले जाने पर स्वयं श्रीकृष्ण की भी आँखों में व्रज की छटा नाचती रहती थी। मित्रवर उद्धव से एक दिन आप कहने लगे—

ग्वालन सँग जैबो वन ऐबो सुगायन सङ्ग,
हेरी तान गैबो सोचि नैन फरकत हैं।
ह्याँ के गज-मोति-माल वारौं गुञ्ज मालन पै,
कुञ्ज-सुध आये हाय प्रान धरकत हैं॥
गोबर को गारो सु तौ मोहि लगै प्यारौ,
नाय भावैं ए महल जे जरित मरकत हैं।
मन्दर तें ऊँचे कहा मन्दिर हैं द्वारका के,
ब्रज के खरक मेरे हिये खरकत हैं॥

और भी—

ऊधौ, मोहि ब्रज विसरत नाहि।
वृन्दावन गोकुल तन आवत सघन तृनन की छाहीं॥
प्रातसमय माता जसुमति अरु नन्द देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यौ सजायौ अति हित साथ खवावत॥
गोपी ग्वाल बाल सँग खेलत, सब दिन हँसत सिरात।
'सूरदास' धनि धनि ब्रजवासी खेलत सँग ब्रजनाथ॥

यह सुन कर उद्धव बोले, 'कैसे मानूँ? तुम्हें ब्रजवासी ही याद आये होते, तो यहाँ आकर क्यों बस जाते?'

माधव, आज तुम्हारा ब्रज, वह ब्रज नहीं रहा। आज वहाँ वह वृन्दावन नहीं है;

पहिले कौसो अब न तिहारो वह वृन्दावन ।
वा के चारों ओर भये बहुविधि परिवर्तन ॥
बने खेत चौरस नये, काटि घने वनपुञ्ज ।
देखन कों बस रहि गये, निधिवन सेवाकुञ्ज ॥
कहाँ चरिहैं गऊँ ।
—सत्यनारायण

अपनी प्यारी गोपियों की भी दशा सुन लो—

जा थल कीनें बिहार अनेकन, ता थल काँकरी बैठि चुन्यौ करैं ।
जा रसना सों करीं बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करैं ॥
'आलम' जौन से कुञ्जन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं ।
नैनन में जो सदा रहते, तिन की अब कान कहानी सुन्यौ करैं ॥

व्रज की यह दशा सुन कर द्वारकाधीश की आँखें डबडबा आयीं । गद्गद् हो बोले—उद्धव !

ब्रजवासी वल्लभ सदा, मेरे जीवन-प्रान ।
इन्हैं न नैंकु बिसारिहौं, नन्द बबा की आन ॥

धन्य व्रज और धन्य व्रज-वासियो !

अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं, पूर्णब्रह्म सनातनम् ॥

वास्तव में वही अभागा है, जो नरदेह पाकर भी व्रज-जैसी रस-भूमि और व्रजवल्लभ-जैसे रसरूप राधारमण का सेवन नहीं करता । आनन्दघनजी का यह ध्रुव सिद्धान्त सुन कर भी क्या आप का चित्त द्रवीभूत न होगा ?

गुरुनि बतायौ, राधा-मोहन हूँ गायौ सदा
सुखद सुहायौ वृन्दावन गाढ़ै गहुरे ।
अद्भुत अभूत महिमंडल परे तें परे
जीवन कौ लाहु हाहा क्यों न ताहि लहुरे ॥
आनँद कौ घन छायौ रहत निरन्तर हीं,
सरस सुदेय सौं पपीहा-पन बहुरे ।

जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसे
पावन पुलिन पै पतित ! परि रहुरे ॥

उस पावन पुलिन-स्थली पर पशु-पच्छी तक 'राधाकृष्ण राधाकृष्ण' बोलते हैं।

तीर-तीर नूतन कदंबन की महा भीर,
झूमि-झूमि साखैं रहीं जमुना में रंग हैं।
बरलरी नवेली फूलि फूलि रही झालर सो
भृङ्ग मतवारे तापै गुञ्जत उमङ्ग हैं॥
भनत 'प्रताप' चहुँ नृत्यत मुदित मोर
तृविध समीर डोलैं तरल तरङ्ग हैं।
जमुना के कूल औ कदंबन की डारन पै
राधाकृष्ण राधाकृष्ण टेरत विहंग हैं॥

व्रजभूमि को कौन मस्तक न झुकायेगा ?

नारायण व्रजभूमि कों, को न नवावै माथ।
जहाँ आय गोपी भये, श्रीगोपेश्वरनाथ॥

नागरीदास के साथ,

सब रस के सिर धूरि दै, करि सरवस व्रज-धूरि।

-कहते हुए हम व्रज-मंडल वर्णन समाप्त करते हैं।

अध्यात्म और भक्ति योग

बिन्दु में सिन्धु समान, को कासों अचरजु कहै।
हेरनहार हिरान, 'रहिमन' आपुहि आपु में॥

आश्चर्य का कुछ ठिकाना ! एक बूँद में सारा समुद्र समा गया ! खोजते खोजते खोजने वाला खुद खो गया ! और खोया भी कहाँ—अपने आप में ! क्या खूब ! पहेली हो तो ऐसी !

बूँद जीव है और सिन्धु ईश्वर। जीव में ईश्वरीय शक्ति विद्यमान है। पिंड में ब्रह्माण्ड समाया है। गागर में सागर भरा है। सर्वव्यापक ब्रह्म इन मुट्ठी भर हड्डियों में व्याप्त है। राम इस छोटी-सी मढैया में रम रहा है। स्वसंवेद्य होने के कारण उस सर्वद्रष्टा की समस्त लीला अन्तर्मुखी है। आँख सब को देखती है, पर आँख किससे देखी जाती है?

जगत जनायो जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिं॥
ज्यों आँखिनु सब देखियैं, आँखि न देखी जाहिं॥

—बिहारी

कहीं रहीम का कुछ और ही तात्पर्य न हो। ऐसा होना बहुत संभव है। कवि का यथेष्ट भाव समझ लेना सहज नहीं। इसका उलटा भी अर्थ घट सकता है। विन्दु ईश्वर हुआ और सिन्धु जीव या प्रकृति। बिन्दु से सर्ग हुआ, औ उसी में उत्सर्ग। मुक्त हो जाने पर जीव और प्रलय के उपरान्त प्रकृति का फिर अपने उसी निर्दिष्ट विन्दु में लीन होना दार्शिनिकों का सिद्धान्त है। अपने को खोया और अपने को पाया। अविद्या के फेर में तो यह राग अलापना पड़ा कि—

अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ।

और विद्या—आत्म-ज्ञान—आलोक में यह दिव्य शब्द चित्र अंकित हो गया—

आपुनपौ आपुन ही में पायौ।
शब्दहिं शब्द भयौ उजियारो, सतगुरु भेद बतायौ॥
'सूरदास' समुझै की यह गति, मन-ही-मन मुसुकायौ।
कहि न जाय या सुख की महिमा, ज्यों गूँगो गुर खायौ॥

यह वही अवस्था है, जिस में कि—

हेरनहार हिरान, 'रहिमन' आपुहि आपु में।

उस्ताद 'मीर' यों कहते हैं—

ख़ुद गुम हुआ हूँ बात की तह आप पा गया!

यह अवस्था केवल अनुभव गम्य है। यहाँ मन एवं वाणी की गति नहीं—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

गोसाईं तुलसीदास इन अनिर्वचनीयता को क्या ही अनोखेपन से अङ्कित कर रहे हैं।

श्याम गौर किमि कहहुँ बखानी।
गिरा अनयन, नयन बिनु बानी॥

बेचारी वाणी की वहाँ रसाई कैसे हो सकेगी? आँखवाली होती तो वहाँ की तसवीर किसी तरह खिंच भी जाती। उधर आँखें भी लाचार हैं। देख तो सब कुछ लेंगी; पर कहेंगी क्या? जीभ तो हई नहीं? एक अन्धी है, दूसरी गूँगी!

जो कुछ कहा या देखा जाता है, जो कुछ गोचर है वह सब इसी पार का है, उस पार का नहीं। रामचरित-मानस के इस सूत्र पर विचार कीजिये—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥

माया की शाब्दिक परिभाषा यही है। पर इतना ही कह देना पर्याप्त न होगा। श्रीमती माया का प्रताप ऐसा-वैसा नहीं है। यह भी एक प्रकार से अनिर्वाच्य ही है। किसी ने इन्हें असत्य कहा है, किसी ने सत्य। गृहस्थ-संन्यासी, ज्ञानी-ध्यानी-जपी-तपी, पंडित अपंडित कोई भी इन की मोहिनी से अछूता नहीं। श्रीमतीजी त्रिगुणात्मिका रस्सी की नकेल ब्रह्मा-विष्णु-महेश तक की नाकों में डाल दी है। कबीर ने आप का स्तवन इस प्रकार किया है—

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
सुरपुर लूट, नागपुर लूटा, तीन लोक मचि हाहाकार॥
ब्रह्मा लूटे, महादेव लूटे, नारद मुनि के परी पछार।
शृंगी की भिंगी करि डारी, पाराशर के उदर विदार॥
कनफूंका चिदकासी लूटे लूटे जोगेसुर करत विचार।

हम तौ बचिगे साहब-दया से, शब्द-डोर गहि उतरे पार ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, इहि ठगनी से रहौ हुसियार ॥

अस्तु ! अब इस पर विचार करना है कि यह जग 'काचो काँच सा' है अथवा 'सचाई-सार'। अद्वैत-वादियों ने मायावाद, विवर्त्तवाद या अध्यास-वाद से संसार को मिथ्या माना है। ये सब वाद बड़े-बड़े धुरन्धर दार्शनिकों के हैं। एक वाद हमारे शृंगारी कवि बिहारी ने भी उपस्थित किया है। उसे 'प्रतिबिम्बवाद' कहना चाहिए। लिखते हैं—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काचो काँच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ ॥

सिद्ध हो चुका है कि यह कच्चा जगत् काँच के समान नाशवान् है। इसमें जहाँ देखो तहाँ एक ही ब्रह्म अनंत रूप से प्रतिबिम्बित हो रहा है। घड़े-घड़े में एक ही सूर्य की परछाईं पड़ रही है। घट-घट में एक ही राम रम रहा है।

श्रुति इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रही है—

अग्निर्यथैकोभुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव;
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपं प्रतिरूपो बहिश्च।

माना कि यह कच्चा संसार काँच-सा है, पर दिखायी तो सच्चा-सा देता है। प्रतीति होनी कठिन है। साँचेका-सा ढला हुआ है न—इसी से तो सच्चा देख पड़ता है।

सुनार मोम के तो 'साँचे' बनाता है, पर कहता है कि ये साँचे हैं, सच्चे हैं। सच्चा तो कुछ और ही है। अनन्य भगवत-रसिक कहते हैं—

साँचे श्रीराधारमन, झूँठो सब संसार।
बाजीगर कौ पेखनो, मिटत न लागै बार ॥
मिटत न लागै बार, भूत की सम्पति जैसे।
मिहरी नाती पूत, धुँआ के धौहर तैसे ॥
'भगवत' ते नर अधम लोभ बस घर-घर नाचे।
झूँठे गढ़ै सुनार मोम के बोलै साँचे ॥

मायावादियों ने अनेक युक्तियाँ उपस्थित की हैं। ग़रीबों को पग-पग पर भ्रम हो रहा है। सीप में रजत, जेवरी में सांप एवं ब्रह्म में जगत् का भास हो जाना उनके लिये नित्य का रोना है। मृग-जल, गन्धर्व-नगर और धुवां के धौरहरे भी न जाने कब से चले आ रहे हैं। पर है यह सब पिष्टपेषण, चर्वित चर्वण। माना कि जगत् मिथ्या ही है। पर क्या उसके मिथ्यात्व ही में उसका आदि, मध्य और अवसान है? हमारा कर्त्तव्य क्या है? हमारा कर्त्तव्य है उस 'काचे कांच से जगत्' को 'सचाईसार' सिद्ध करना। यह सत्य-सार—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' चिल्लाने से प्रत्यक्ष न हो सकेगा। इस जगजाल से छुटकारा पा जाना वेदवेदान्त के अगाध अनुशीलन द्वारा संभव नहीं। ज्ञान-योग वा कर्म-योग का भी सामर्थ्य नहीं कि ये हमें इस 'बदनहीन तनु ग्रसै चराचर' जैसे कराल काल के गाल से निकाल सकें। तब तो बड़ी आफ़त है। क्या मुक्ति भी खपुष्पवत् है? सो तो नहीं, पर दुरूह अवश्य है। हां, एक मार्ग बड़ा ही सुलभ और वह है सप्रेम सत्सङ्ग। सत्सङ्ग के महत्व पर सहस्रों सूक्तियां मिलती हैं, जो महात्माओं के श्रीमुख से प्रगट हुई हैं। पर एक सूक्ति जिसे शृङ्गारी कवि बिहारी ने शृंगार का लिबास पहना कर खड़ा किया है, सचमुच ही बड़े मार्के की है। वह यह है—

अजौं तर्‌यौ ना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग॥

यहाँ 'तर्‌यौना', 'श्रुत', 'नाकबास', 'बेसरि' और 'मुकुतन' पद श्लिष्ट हैं।

बेसर-पक्ष का यह अर्थ होगा—

"आज तक तर्‌यौना अर्थात् कर्ण-फूल एक रीति से कानों की सेवा करता हुआ तर्‌यौं ना ही रहा, नीचे को ही लटकता रहा। और बेसर ने थोड़े दिनों में नासिका का वास प्राप्त कर लिया, उच्च स्थान पा लिया।"

अब सत्सङ्ग-पक्ष का अर्थ अवलोकन कीजिए—

"एक रीति से श्रुति (वेद) का सेवन करता हुआ तू आज तक भी

न तरा, डूबा ही रहा। देख, अधम से भी अधम जीव ने मुक्तों (जीवन मुक्त महात्माओं) के संग में बस कर स्वर्ग-निवास प्राप्त कर लिया।"

सत्य है—

सठ सुधरहिं सतसङ्गति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥
धूमउँ तजे सहज करुआई। अगर प्रसङ्ग सुगंध बसाई॥

—तुलसी

× × ×

आप लोग संसार की भूल-भूलैयों से इतना डरते क्यों हैं? मुक्त हो जाने पर कौन-सी कुबेर की सम्पत्ति मिल जायगी? इस संसार को माया-मय न मान कर माधव-मय मानिये। जहां अद्वैतवादियों का एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म भी विविध अवतार धारण कर ललित लीलाएँ रचता है, भला वह जगत् असत्य या असार कहा जा सकता है? नारायण को ढूँढ़ना है, तो यहीं ढूँढ़िये—

तुलसी या जग आइकैं, सब सौं मिलियै धाय।
ना जानैं किहि रूप में, नारायण मिलि जाय॥

कौन कहता है कि यह संसार दुःखमय है? यह तो पुरुष और प्रकृति—राधा और कृष्ण—की विहार-भूमि है। कविवर शंकर 'पुरुष-प्रकृति' के रमण का इस प्रकार निरूपण कर रहे हैं—

शंकर अखंड एक अक्षर की एकता ने,
स्वाभाविक साधन अनेकता का साधा है।
तारतम्यता के साथ विश्व की बनावट में,
पोल और ठोस का प्रयोग आधा-आधा है॥
नामरूप ज्ञान से क्रिया की कर्म कल्पना से,
नित्य निरुपाधि चिदानन्द में न बाधा है।
सामाधिक धारणा में ऐसा ध्रुव ध्यान है तो,
पुरुष मुकुन्द है प्रकृति प्यारी राधा है॥

फिर प्रकृति-पुरुष—राधा-मुकुन्द—की लीला-भूमि में मिथ्यात्व और

मायावादियों ने अनेक युक्तियाँ उपस्थित की हैं। ग़रीबों को पग-पग पर भ्रम हो रहा है। सीप में रजत, जेवरी में सांप एवं ब्रह्म में जगत् का भास हो जाना उनके लिये नित्य का रोना है। मृग-जल, गन्धर्व-नगर और धुवां के धौरहरे भी न जाने कब से चले आ रहे हैं। पर है यह सब पिष्टपेषण, चवित चर्वण। माना कि जगत् मिथ्या ही है। पर क्या उसके मिथ्यात्व ही में उसका आदि, मध्य और अवसान है? हमारा कर्त्तव्य क्या है? हमारा कर्त्तव्य है उस 'काचे कांच से जगत्' को 'सचाईसार' सिद्ध करना। यह सत्य-सार—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' चिल्लाने से प्रत्यक्ष न हो सकेगा। इस जगज्जाल से छुटकारा पा जाना वेदवेदान्त के अगाध अनुशीलन द्वारा संभव नहीं। ज्ञान-योग वा कर्म-योग का भी सामर्थ्य नहीं कि ये हमें इस 'वदनहीन तनु ग्रसै चराचर' जैसे कराल काल के गाल से निकाल सके। तब तो बड़ी आफ़त है। क्या मुक्ति भी खपुष्पवत् है? सो तो नहीं, पर दुरुह अवश्य है। हां, एक मार्ग बड़ा ही सुलभ और वह है सप्रेम सत्सङ्ग। सत्सङ्ग के महत्व पर सहस्रों सूक्तियां मिलती हैं, जो महात्माओं के श्रीमुख से प्रकट हुई हैं। पर एक सूक्ति जिसे शृङ्गारी कवि बिहारी ने शृंगार का लिबास पहना कर खड़ा किया है, सचमुच ही बड़े मार्के की है। वह यह है—

अजौं तर्‌यौ ना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग॥

यहां 'तर्‌योना', 'श्रुति', 'नाकबास', 'बेसरि' और 'मुकुतन' पद श्लिष्ट हैं।

बेसर-पक्ष का यह अर्थ होगा—

"आज तक तर्‌योना अर्थात् कर्ण-फूल एक रीति से कानों की सेवा करता हुआ तर्‌यौ ना ही रहा, नीचे को ही लटकता रहा। और बेसर ने मोतियों के संग से नासिका का वास प्राप्त कर लिया, उच्च स्थान पा लिया।"

अब सत्संग-पक्ष का अर्थ अवलोकन कीजिए—

"एक रीति से श्रुति (वेद) का सेवन करता हुआ तू आज तक भी

न तरा, डूबा ही रहा। देख, अधम से भी अधम जीव ने मुक्तों (जीवन मुक्त महात्माओं) के संग में बस कर स्वर्ग-निवास प्राप्त कर लिया।"

सत्य है—

सठ सुधरहिं सतसङ्गति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥
धूमउँ तजे सहज करुआई। अगर प्रसङ्ग सुगंध बसाई॥

—तुलसी

× × ×

आप लोग संसार की भूल-भूलैयों से इतना डरते क्यों हैं? मुक्त हो जाने पर कौन-सी कुबेर की सम्पत्ति मिल जायगी? इस संसार को माया-मय न मान कर माधव-मय मानिये। जहां अद्वैतवादियों का एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म भी विविध अवतार धारण कर ललित लीलाएँ रचता है, भला वह जगत् असत्य या असार कहा जा सकता है? नारायण को ढूँढ़ना है, तो यहीं ढूँढ़िये—

तुलसी या जग आइकैं, सब सौं मिलियै धाय।
ना जानैं किहि रूप में, नारायण मिलि जाय॥

कौन कहता है कि यह संसार दुःखमय है? यह तो पुरुष और प्रकृति—राधा और कृष्ण—की विहार-भूमि है। कविवर शंकर 'पुरुष-प्रकृति' के रमण का इस प्रकार निरूपण कर रहे हैं—

शंकर अखंड एक अक्षर की एकता ने,
स्वाभाविक साधन अनेकता का साधा है।
तारतम्यता के साथ विश्व की बनावट में,
पोल और ठोस का प्रयोग आधा-आधा है॥
नामरूप ज्ञान से क्रिया की कर्म कल्पना से,
नित्य निरुपाधि चिदानन्द में न बाधा है।
सामाधिक धारणा में ऐसा ध्रुव ध्यान है तो,
पुरुष मुकुन्द है प्रकृति प्यारी राधा है॥

फिर प्रकृति-पुरुष—राधा-मुकुन्द—की लीला-भूमि में मिथ्यात्व और

दुःख कैसा ? सुख और दुःख, पाप और पुण्य, स्वर्ग और नरक, बंधन और मोक्ष एक ही वस्तु हैं। न कोई ज्ञानी है, न कोई मूढ़। जो है, सो है। हम लोगों के खेलने के लिये जगत्पिता ने ये सब खिलौने रच दिये हैं। जी बहलाने के लिये कुछ-न-कुछ चाहिए न—दुःख ही सही—

तुम बिनु एती को करै, कृपा जु मेरे नाथ।
मोहि अकेलो जानिकैं, दुख राख्यौ दै साथ॥

प्रेमोन्मत्त भी एक ही अद्वैतवादी हैं। उनकी दृष्टि में दिन दिन नहीं, रात रात नहीं, बंधन बंधन नहीं, मोक्ष मोक्ष नहीं। दुःख और सुख में वे कोई भेद नहीं मानते। इन सब द्वन्दों को वे नारायणीय लीला समझते हैं। उनके लिए जीवन और मरण दोनों ही समानार्थक हैं, एक ही वस्तु के दो भिन्न नाम हैं। उनके लिये जो मर्ज़ है, वही हकीम है और वही दवा भी।

वहई रोग निदान वहै बैद, औषध वहै॥

—बिहारी

जिस पर कुर्बान हो रहे हैं उसी को देख-देख कर जीते भी हैं—

मुहब्बत में नहीं है फ़र्क़ जीने और मरने का,
उसी को देख कर जीते हैं, जिस क़ाफ़िर पै दम निकले।

—ग़ालिब

अब कहाँ गया आपका असत्य और सत्य ? भाई, क्यों शास्त्रों के जाल में फँसे हो ? दर्शन-दर्शन चिल्लाने से क्या होगा ? अगर दर्शन की बदौलत अपने प्यारे का दर्शन न मिला तो छोड़ो ऐसा दर्शन ! मुक्त होने पर यदि प्रियतम की झलक न पायी, तो उस मुक्ति से लाभ क्या !

दुख औ सुख, पाप औ पुन्य दुऔ,
रस रोमु, का रोवतु गावतु है !
गुन औगुन, नेक बदी, हितू बैरि,
सुधा बिसु एक सो भावतु है॥
कवि 'बोधा' अनादर आदर ऊपर,
तैं जिय तो सुख पावतु है।

दिलदार पै जौलों न भैंट भई,
तबलों तरिबो का कहावतु है ?

दिलदार से भेंट हुई कि सच और झूठ दोनों से ही बेड़ा पार हो गया।

चिन्ता करनी व्यर्थ है। जो बोया है वह काटना ही होगा। केवल अपने पुरुषार्थ से कर्म की रेखा मिटा देनेवाला अद्यपर्यन्त कोई वीर उत्पन्न नहीं हुआ। बिना भोगे कर्म से छुटकारा पा जाना असम्भव है—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

अर्थात्,

कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥

जब ऐसा ही है, तो आकाश-पाताल को क्यों एक किये डालते हो ?

होइहै वही जो राम रचि राखा ।
को करि तर्क बढ़ावहि साखा ॥

पर, इससे यह न समझ बैठना कि गोसाईं तुलसीदास हाथ पर हाथ धरे बैठ रहने का उपदेश दे रहे हैं ! नहीं, नहीं, ऐसा नहीं। कर्म करो, निरंतर करो। निरलस होकर करो। कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फलेच्छा में नहीं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

—गीता

पर अनासक्त रहो। कर्म करते हुए भी अपने को कर्त्ता न मानो। कर्ता तो कोई दूसरा ही है। वही नियन्ता है। वही प्रेरक है। वही अखिल ब्रह्माण्ड का सूत्राधार है।

उमा दारु-जोतिप की नाईं ।
सबै नचावत राम गुसाईं ॥

गीतायाम्—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

बिहारी की भी सूक्ति सुन लीजिये—

उड़ी जाहु कितहू गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ।

मैं भी स्वर मिलाये देता हूँ—

हम तो तेरे ही बस साईं।
सुख-दुख, हानि-लाभ तेरे कर रहत चंग की नाईं॥
जैसी बहति बात तैसेइ तृन उड़त संग बरियाईं।
चलत तिहारे ही 'हरि' पीछे ह्वै तेरी परछाईं॥

हाँ, माया ऐसी प्रबल है। उससे कैसे छूटें ? भगवान् तो यह उपाय बतलाते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

इसी से मिलता-जुलता मानस-शास्त्र के ऋषि का यह सूत्र है—

जेहि बाँध्यो सोई छोरै।

सारांश यह कि बिना भगवत्कृपा के—जो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकती है—माया-बन्धनों से मुक्त होना दुःसम्भव ही नहीं, असम्भव है।

परमेश्वर की कृपा का क्या कहना है ! अपने भक्तों के निमित्त वह क्या-क्या करने को तैयार नहीं रहता। समय-समय पर केवल उनके ही लिए उसे इस असार संसार में अवतार लेना पड़ता है। कतिपय नीरस दार्शनिक अवतारवाद को मानते ही नहीं। हमें उन तर्क-वाचस्पतियों से कोई सरोकार नहीं ! हम तो इस भगवदुक्ति के भी क़ायल नहीं कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं॥

हम लोग तो यह जानते हैं कि वह केवल अपने बिछुड़े हुए भक्तों से ही भेंट करने के अर्थ अवतीर्ण हुआ करता है। हम लोग अपने कर्मों के बल जब उसके द्वार तक न पहुँच सके, तब उसे स्वयंमेव यहाँ आना पड़ा—

'यदमद' गति अवतार की कहत सबै संसार।
बिछुरे मानुष फिर मिलें, यही हेतु अवतार॥

अवतारवाद पर क्या ही अनूठी उक्ति है !

बस, जब तक वह हमसे मिलने नहीं आया, तब तक सच्चा सुख नहीं—

ना वह मिलै न मैं सुखी, कहु जीवन क्यों होय।
जिन मोकों घायल कियौ, मेरी दारू सोय॥

—दादू दयाल

जब तक उससे मिलने के लिए दिल मे दर्द पैदा नहीं हुआ तब तक मत-मतांतरों में ही चक्कर लगाने पड़ेंगे। उससे मिलने का राह तो कुछ निराला ही है। उससे मिलने की चाह रखनेवाला योगी कहता है—

उसके कूचे में सदा मस्त रहा करते हैं।
वही बस्ती, वही नगरी, वही जंगल, वही बन॥
जब से उस शोख़ के फन्दे में फँसे, टूट गये—
जितने थे मज़हबो मिल्लत के जहाँ में बन्धन॥
नाम को पूछो तो है नाम हमारा आशिक़।
सब से आज़ाद हुए यार का लेकर दामन॥
पंथ को पूछो तो जोगी न जनम के न अतीत।
इश्क के मेल में हम प्रेम का करते हैं बरन॥
गर रहें जीते तो जीने की नहीं फिक्र हमें।
और मर जायँ तो हरगिज़ नहीं परवाय कफ़न॥
जा पड़ें याद में उस शोख़ की जिस बस्ती में।
वही गोकुल है हमें और वही बृन्दावन॥

—नज़ीर

बिना सच्ची लगन के उसका दर्शन दुर्लभ है और बिना उसके दर्शन के मुक्ति-लाभ स्वप्नवत् है।

इन शास्त्रीय-वादविवादों के बखेड़े में पड़ना ठीक नहीं। यह शब्दाडम्बर है। जितना ही अधिक सुलझाने की चेष्टा करेंगे, उतना ही उलझते जायँगे ! अन्त में यही कहना पड़ेगा, कि—

केशव, कहि न जाइ का कहिये ?
देखत तुव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये ॥
× × ×
कोउ कह सत्य कोउ कह मिथ्या, युगल प्रबल कोउ मानैं ।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपुन पहिचानै ॥

—तुलसी

अथवा—

तुलसी चित-चिंता न मिटै बिनु चिंतामणि पहिचाने ।

सारे अध्यात्म का निचोड़ यही है कि जब तक आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ, तब तक यह सारा बकना-बकाना बिल्कुल व्यर्थ है । कोरी करनी से काम न चलेगा । आजकल तो वेदान्तियों का भाव टके सेर है । जिसे देखो वही व्यास का बाबा बन बैठा है !

वाक्योच्चार्यसमुत्साहास्तत्कर्मकर्तुमक्षमाः ।
कलौ वेदान्तिनो भांति फाल्गुने बालका इव ॥

—श्रीशंकराचार्य

किसकी शक्ति है, जो उस अव्यक्त ब्रह्म को शब्दों द्वारा व्यक्त कर सके ? उसकी तसवीर कौन खींच सकता है ? बिहारी ने क्या खूब कहा है—

लिखनि बैठ जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥

है तो कठिन, पर चित्र खींचा जा सकता है । गोसाईं तुलसीदास सीता के हृदय में राम का चित्र इस प्रकार अङ्कित करा रहे हैं—

परम प्रेममय मृदुमसि कीन्ही ।
चारु चित्त भीतर लिखि लीन्ही

जब भक्ति-श्रेष्ठ सूरदास को निराकार ब्रह्म का चित्र उतारने में कठिनाई जान पड़ी, तब यह सिद्धान्त स्थिर किया—

सब बिधि मोकों अगम अगोचर, सूर सगुन लीला पद गावै ॥

भाव-मन्दिर में भक्तियोग द्वारा सगुण साकार ब्रह्म की आराधना ही आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा है और यही हमारे साहित्य का एकमात्र सार है।

मनमौजी कवि

कवयः किं न जल्पन्ति ? कविजन क्या-क्या मनमानी बात नहीं कह डालते हैं ? उनकी दृष्टि सर्वव्यापिनी होती है। जहाँ पवन की पहुँच नहीं वहाँ भी कवि स्वतंत्रता- पूर्वक विचरण किया करता है। जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि। जिस कवि में स्वाभाविक प्रतिभा है वही स्वतंत्र कवि है। मौलिकता प्रत्येक व्यक्ति में नहीं पायी जाती। कवि का संसार विरंचि के प्रपंच से भिन्न होता है। यह माना, कि कवि कैसा ही प्रतिभाशाली हो, विना किसी आधार या छाया के वह नूतन रचना नहीं कर सकता, किन्तु जो वास्तविक कवि होगा, वह दूसरे के आधार को ऐसा अपूर्व और नूतन रूप दे देता है कि उसमें असाधारण चमत्कार चमकने लगता है और अर्थापहरण के दोष से भी बच जाता है। यह असाधारण चमत्कार उन नामधारी कोरे कवियों की कृति में नहीं मिलता, जो केवल कृत्रिमता के ही फेर में पड़े रहते हैं। "हठादाकृष्टानाङ्कतिपय पदानां रचयिता" जैसे कवि इस भाव-स्वातंत्र्य की सीमा से कोसों दूर रहते हैं।

भाव-स्वातंत्र्यवान् कवि अपने इष्ट विषय में सदा तल्लीन रहता है। उसका जीवन ही कवितामय होता है। वह निस्पृह हुआ करता है। जो कवि किसी लोभ-लालच के वश कविता लिखा करता है, उसकी कविता कविता नहीं ख़रीदी हुई लौंडी है। सच्ची स्वाभाविक कविता का मूल्य कौन दे सकता है! ऐसी कविता के मुखपृष्ठ पर किसी राजा-महाराजा के नाम का समर्पण-पत्र नहीं मिलेगा। सत्कवि को क्या परवा, कि वह अपनी कृति का धनांधों के सामने ढिँढोरा पीटता फिरे! पुष्प में पराग चाहिये, रसिक भ्रमर उस पर आप ही मुग्ध हो मँडराने लगेगा! कवि-कुल-कुमुद-कलाधर गोसाईं तुलसीदास ने

"स्वांतः सुखाय" की नींव पर ही रामचरितमानस जैसे गगन-चुम्बी भवन का निर्माण किया है।

मनमौजी स्वतंत्र कवि लाख में एक मिलेगा। जहाँ तहाँ ठकुर सुहाती बात करनेवाले ही दिखायी देंगे। माना कि गुण ग्राहक की प्रशंसा पर दो-चार छन्द लिखना कोई पाप नहीं, पर उस तारीफ़ की कोई हद भी तो होनी चाहिए। "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" जैसी उक्ति किसी सत्कवि के आत्मगौरव के लिए कितनी हानिकारिणी है, इसे विचार-स्वातंत्र्य के उपासक सहज ही समझ लेंगे। हमारे यहाँ के दरबारी कवि—क्या संस्कृत कवि, क्या भाषा कवि—अपने आश्रयदाता को अतिशयोक्ति के उच्च शिखर पर ऐसा चढ़ा देते थे कि बेचारा चाटुकारिता प्रिय वहाँ से ढुलक कर गिरे, तो पता भी न चले। पर, सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि उन आश्रयदाताओं का जी इन चापलूसों की गप्पों से कभी ऊबता नहीं था। कवियों को उस मिथ्या प्रशंसा पर भारी-भारी पुरस्कार दिये जाते थे! कुछ पेटार्थू कवियों ने अपनी मिथ्या रचना द्वारा मूर्खाचार्य को बृहस्पति, नपुंसक को भीम लंपट को सिद्ध, भोगी को योगी और नालायक़ को लायक़ सिद्ध करने की भी भरसक चेष्टा की है। ये लोग यदि अपनी प्रतिभा को, व्यर्थ स्वार्थ पर प्रलाप में न लगा कर, उच्च आदर्श की ओर झुका देते तो इनका क्या बिगड़ जाता!

इन कविता-कलंकियों के सम्बन्ध में अधिक न लिख कर हम उन दो चार सत्कवियों के स्वतंत्र विचारों पर चर्चा चलायेंगे, जिन्होंने निस्पृह होकर अपने जीवन को केवल साहित्य सेवा में ही बिताया। उन लोगों का जैसा निर्मल-हृदय था, वैसे ही उन्होंने दिव्योद्‌गार प्रकट किये हैं। उनका स्वभाव कैसा स्वतंत्र होता था, इसका पता नीचे के कवित्त से चलता है—

सुकवि सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान-युद्ध-वीरता में नैकहू न मुरके।
जसु के करैया हैं प्रजा के प्रतिपालक जे,
हिये के विसुद्ध हैं, सनेही साँचे उर के॥

'ठाकुर' कहत हम वैरी बेवकूफ़न के,
जालिम दमाद हैं अदेनिया ससुर के ॥
चोजन के चोजी महा मौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के ॥

अर्थ स्पष्ट है। कविता-नायक या आश्रयदाता के क्या ही उत्तम लक्षण हैं! यदि कवि को उपर्युक्त गुण-विशिष्ट सत्पुरुष मिल जाय तो उसका जीवन धन्य है!

चन्द को पृथ्वीराज, भूषण को शिवाजी, लाल को छत्रसाल और सूदन को सुजानसिंह कल्पतरु थे। ये आश्रयदाता सच्चे देश-हितैषी, धर्म-रक्षक; प्रजा-पालक, न्यायप्रिय और गुण ग्राहक थे। इन के विरुद्ध कविवर ठाकुर ने एक भी शब्द नहीं लिखा। वह तो उन कमबख्तों के जानी दुश्मन थे, जो कायर थे, विलासी थे, प्रजा-पीड़क थे, निरक्षर थे, निर्दय थे और कृतघ्न थे। यद्यपि यह मनमौजियों के राजाधिराज थे, तथापि चतुर गुण-ग्राहकों के सेवक थे। बलिहारी!

ठाकुर से मिलता-जुलता स्वभाव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का भी था। आपने अपने विषय में लिखा है—

गुनीजन-सेवक, रु चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गुनगानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों,
हरीचंद नकद दमाद अभिमानी के ॥
चाहिवे की चाह, काहू की न कुछ परवाह,
नेही नेह के, दिवाने सूरत निवानी के।
सर्वसु रसिक के, सुदास-दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधारानी के ॥

रसिक हरिश्चन्द्र ठाकुर से चार क़दम और आगे बढ़ गये हैं। चतुर के चाकर और जैसे को तैसे तो यह भी हैं, पर अहम्मन्यों के आप 'नक़द दामाद' बन रहे हैं। क्या ही स्पष्टवादिता है। श्रीकृष्ण के सखा होकर भी

राधिका रानी के गुलाम बने हुए हैं। जब स्वयं श्रीकृष्ण ही श्रीनिकुञ्जेश्वरी के पैर पलोटते हैं, तब उनके सखा गुलाम हई हैं।

स्वातन्त्र्य-प्रिय कवि केवल अपनी कविता में बेवकूफ, दामाद आदि शब्दों का प्रयोग ही नहीं करते थे, वरन वे बड़े-बड़े बादशाहों के मुँह पर खरी-खरी सुनाने से भी नहीं चूकते थे। एक बार औरंगजेब ने भूषण से अपनी गुणावली बखानने को कहा। भूषण चाटुकार तो थे नहीं। उनकी नसों में देश-भक्ति और धर्म-वीरता का रक्त बह रहा था। औरंगज़ेब के अत्याचार भी सुन और देख बैठे थे। आज अच्छा मौक़ा मिला। फड़क कर बादशाह आलमगीर का यशोगान करने लगे—

हाथ तसबीह लियें प्रात उठै बन्दगी कों,
　　　　आप ही कपटरूप कपट सुजप के।
आगरे में जाय दारा चौक में चुनाय दीनो,
　　　　छत्रहू छिनायौ मानौ मरे बूढ़े बप के॥
कीनो है सगोत-घात सो मैं नाहिं कहौं फेरि,
　　　　पील पै तोरायौ चार चुगुल के गप के।
'भूषन' भनत छरछन्दी मतिमन्द महा,
　　　　सौ-सौ चूहे खायकैं बिलारी बैठी तप के!

अच्छा गुणगान हुआ! बादशाह मारे गुस्से के आपे से बाहर हो गया। भूषण पर खूब डाट पड़ी, पर सच्चा ओजस्वी कवि कब धमकियों से डरनेवाला था! उसे लालच ही किस बात की थी? जनाब की सभी पोल खोलकर बिना ही सलाम किये चल दिये।

भूषण के आश्रय-दाता हिन्दू-धर्म-दिवाकर महाराष्ट्र-केशरी शिवाजी थे। उनकी वीरता और देश-सेवा पर इन्होंने सैकड़ों छन्द रचे हैं। शिवाजी को यह अपना सर्वस्व समझते थे। उनके यह अनन्य भक्त थे। पर अन्य सच्चे गुणग्राहकों की भी यह अवहेलना नहीं करते थे। बुन्देलखण्डोद्धारक महाराज छत्रसाल ने भूषण की पालकी का डंडा उठा कर स्वयं अपने कन्धे पर रख लिया था। इस गुण-ग्राहकता का कुछ ठिकाना! कवि ने छत्रसाल पर आठ

ही कवित्त कहे, पर वे ऐसे ओजपूर्ण हैं कि सुन कर रोमाञ्च हो आता है, तबीयत फड़क उठती है। एक छन्द सुनिये—

भुज-भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी-सी,
खेदि-खेदि खातीं दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरिन बीच धसि जाती मीन
पैरि पार जाति परवाह ज्यों जलन के॥
रैया-राय चंपत कौ छत्रसाल महाराज,
'भूषन' सकत को बखानि यौं पलन के।
पच्छी पर छीन ऐसे परे परछीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के॥

जहाँ कविता की रीझ-बूझ नहीं, वहाँ कवियों का काम ही क्या? भैंस के आगे बीन बजाई, भैंस खड़ी पगुराई! अरसिक को रिझाना व्यर्थ है—

पीनसवारो प्रवीन मिलै तौ कहाँ लौं सुगंधी सुगंध सुँघावै।
कायर कोपि चढ़ै रण में तौ कहाँ लगि चारण चाव चढ़ावै॥
जैसे गुनी कों मिलै निगुनी तौ 'सुखी' कहै क्यों करि ताहि रिझावै।
जैसे नपुंसक नाह मिलै तो कहाँ लगि नारि सिँगार बनावै॥

एक कवि ने विधाता से विनय की है—

इतर तापशतानि यथेच्छया
वितरितानि, सहे चतुरानन!
अरसिकेषु कवित्व-निवेदनम्
शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख!

हे चतुर चतुरानन! तू सैकड़ों कष्ट मुझे दे, सहर्ष सहने को तैयार हूँ; पर अरसिकों के सम्मुख कविता का पढ़ना मेरे प्रारब्ध में कृपा कर न लिखना। इस दुःख को मैं न सह सकूँगा। ठीक ही है, बिना अधिकारी पाये कविता का जौहर नहीं खुल सकता।

एक कवि महाशय अनधिकारियों की तीव्र आलोचना करने पर उतारू हो गये हैं; कहते हैं—

शाह भये सूमड़ा सु बादशाह हीन हद,
खगे खगरेदन दुशाला बेंचि खाई है।
भोले भये भूपति, कनौड़े धनवंत सब,
मूरख महन्त अंध देत न दिखाई है॥
कायथ कुपूत भये कूर, रजपूत धूत,
बनिया-बरूथ पेखि पुञ्ज पछिताई है।
काके ढिग जाऊँ, काहि कविता सुनाऊँ भाई!
अब कविताई रही फजिहतिताई है॥

सूम पर यह महात्मा बेतरह चिढ़े हुए थे। सूम-सम्बन्ध के पचासों छन्द मिलते हैं। उन छन्दों में उक्तियाँ भी दूर की हैं। एक साहब फ़रमाते हैं—

पायँ-विहीन के पायँ पलोटे, अकेले ह्वै जाय घने बन रोये।
आरसी अंध के आगे धरी, बहिरे सों मतो करि उत्तर जोये॥
ऊसर पै बरस्यौ बहु बारि, पखान के ऊपर पंकज बोये।
'दास' वृथा जिन साहिब सूम के सेवन में अपने दिन खोये॥

एक महोदय स्वयं सूम के ही मुख से लक्ष्मी-स्तोत्र पढ़वा रहे हैं—

दाता घर होती, तो कदर तेरी जानो जाती,
आई है भले घर बधाई बजवाव री।
गाने नहखानेन में आनिकै बसेरो लेहु,
होहु न उदास छिन चौगुनो बढ़ाव री॥
मैहौं न मरैहौं, नरि जैहौं तो सिंगाय देहौं
यही पूत नातिन कौं आपुनो सुभाग री।
ठर्यो न देहौं कबौं जात मैं भिखारिन कौं,
सूम कहै भंवनि मों बैठी गीत गाव री॥

[illegible] है! किन्तु [illegible]
[illegible]

कृपण ही है। संस्कृत के एक कवि महोदय किसी अर्थ-पिशाच का चित्र खींच रहे हैं—

जातिर्यातु रसातलं, गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता—
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यता वह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तुनः केवलं,
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे॥

जाति पाताल को चली जाय तो चली जाय, हमें कोई चिन्ता नहीं। यावत् सद्गुण और भी नीचे चले जायँ तो कोई परवा नहीं। शील पहाड़ पर से गिर कर चूर-चूर हो जाय, हमें सहर्ष स्वीकार है। सारा कुटुम्ब आग में जल कर ख़ाक हो जाय, अच्छी बात है। परमात्मा करे, हमारी शत्रु वीरता पर वज्रपात हो। यह सभी नष्ट हो जायें तो हो जायँ, हमें तो एकमात्र धन से प्रयोजन है। बिना उस प्राणप्रिय धन के ये समग्र गुण तृणवत् तुच्छ हैं—

कृपण के साथ मित्रता करनी व्यर्थ है—

मेह फीको फागुन, अबालक को गेह फीको,
नेह फीको तिय को, सनेह फीको सूम को।

× × ×

उद्दण्ड कवि उन लोगों की भी खूब ख़बर लेते थे, जो उन के इनाम-इक़राम के मामले में टालटूल या हेर-फेर किया करते थे। राज-दरबारों में किसी समय कायस्थों की भरमार रहती थी। बड़े-बड़े ओहदों पर यही रखे जाते थे। सम्भव है, किसी कायस्थ ने किसी चंद नामक कवि के पुरस्कार के सम्बन्ध में कुछ विघ्न उपस्थित किया हो। इस पर आप उस पर इतने बिगड़े कि सारी कायस्थ-जाति पर ही ईंट-पत्थर बरसाना शुरू कर दिया—

मद के भिखारी, मीन मांस के अहारी रहैं,
सदा अनाचारी, चारी लिखत लिखावते।
नारी कुलधाम की न प्यारी, परनारी प्यारी
विद्या पढ़ि पढ़ि हू कुविद्या मति धावते॥

आखिन को काजर कलम सों चुराय लेत,
ऐसे काम करैं नेकु संकहू न लावते ।
जोपै सिंहवाहिनी निवाहिनी न होती 'चंद',
कायथ कलवी काके द्वारैं गति पावते ?

कवि युगलकिशोर ने मुंशीजी को क़साई और उनकी क़लम को तलवार बना डाला है—

पाइकैं गवाँर-गाह साफ़ करैं साइत में,
मुनसी कसाई की कलम तरवार है ।

अकबर के दरबार में कवियों का अच्छा आदर था। अत्युक्ति न होगी, यदि यह कहें कि अकबर का शासन-काल कवियों के लिए कल्प-तरु था। अस्तु; दरबार में करनेश नाम के एक कवि आया-जाया करते थे। उनकी कविता पर प्रसन्न हो सम्राट् ने अपने वज़ीर से उन्हें पुरस्कार देने को कहा। वज़ीर बहुत दिनों तक करनेश को हेर-फेर की बातों में चक्कर खिलाता रहा, टका हाथ न लगाया। कवि से अब तो न रहा गया। आग-बबूला हो गये। बोले, सुनो—

खात हैं हराम दाम, करत हराम काम,
घर-घर तिनही के अपजस छावैंगे ॥
दोजख में जैहैं, तब काटि-काटि कीड़े खैहैं,
खोपरी को गूदो काग टोटिन उड़ावैंगे ॥
कहै 'करनेश' अबै घूस खात लाजैं नहीं,
रोज़ा औ निमाज़ अन्त काम नाहिं आवैंगे ।
कविन के मामले में करैं जौन खामी तौन
निमकहरामी मरे कफ़न न पावैंगे ॥

जब कवियों की मान-हानि होती थी, तभी उनके विचार स्वातंत्र्य का पता चलता था। सिंह-शावक के सदृश उच्छृंखल रहते थे। अनधिकारियों के सामने क्षणमात्र भी खड़ा रहना पसन्द नहीं करते थे। आत्म-गौरव का तो पूरा ख़याल रखते थे। कोई भी हो, खरी-खरी कहने से चूकते न थे। मुँहफट

बुद्धिसेन ने लंपट और दुराचारी राजाओं को कैसा फटकारा है—

अन्यत्र—

बारी औ खँगार, नाऊ, धीमर, कुम्हार, काछी,
खटिक, जसौंधी ये हुजूर कों सुहात हैं।
कोल, गौंड, गूजर, अहीर, तेली नांच सबै,
पास के रहे तें कहा ऊँचे भये जात हैं ?
'बुद्धिसेन' राजन के निकट हमेस बसैं,
कूकर बिलार कहा गुन अधिकात हैं ?
दूरहिं गयंद बाँधे दूर गुनवान ठाढ़े,
गज औ गुनी के कहा मोल घटि जात हैं ?

अन्यत्र—

नहिं जाति है बात गुनी की सुनो कवि-कोविद पै इतराजी रहै।
निसि वासर पास जो पाजी रहै तौ महीप या कालके राजी रहैं॥

यदि ये दुराचारी लंपट नृपति नीचों की कुसंगति में न पड़ते, तो इनके वंश की कीर्ति-कौमुदी कलुषित ही क्यों होती ? इन कुलांगारों ने यदि समादरणीय सज्जनों का मान नहीं किया, तो क्या वे पतित हो गये ? उनका कोई मान करे वा न करे, उन्हें कोई परवा नहीं। वे तो धूलभरे हीरे हैं। उन्हें जौहरी ही पहचानेगा।

समझ पड़ता है, अच्छे-अच्छे कवियों का भी मान-मर्द्दन हुआ है और इसी मान हानि ने उन्हें और भी ऊँचा कवि बना दिया है। महाकवि सेनापति ने अपात्रों पर कैसी घृणा प्रकट की है—

चिंता अनुचित, धरु धीरज उचित
'सेनापति' ह्वै सुचित रघुपति-गुन गाइए।
चारि बरदानि तजि पाय कमलेछन के
पायक मलेछन के काहे कों कहाइए ?

म्लेच्छों का सेवक बनने में धरा ही क्या है ? कमलाक्ष भगवान् के चरण-कमल ही परिसेव्य हैं।

आखिन को काजर कलम सों चुराय लेत,
ऐसे काम करैं नैकु संकहू न लावते।
जोपै सिहवाहिनी निवाहिनी न होती 'चंद',
कायथ कलकी काके द्वारैं गति पावते ?

कवि युगलकिशोर ने मुंशीजी को क़साई और उनकी क़लम को तलवार बना डाला है—

पाइकैं गवाँर-गाइ साफ़ करैं साइत में,
मुन्सी कसाई की कलम तरवार है।

अकबर के दरबार में कवियों का अच्छा आदर था। अत्युक्ति न होगी, यदि यह कहें कि अकबर का शासन-काल कवियों के लिए कल्प-तरु था। अस्तु; दरबार में करनेश नाम के एक कवि आया-जाया करते थे। उनकी कविता पर प्रसन्न हो सम्राट् ने अपने वज़ीर से उन्हें पुरस्कार देने को कहा। वज़ीर बहुत दिनों तक करनेश को हेर-फेर की बातों में चक्कर खिलाता रहा, टका हाथ न लगाया। कवि से अब तो न रहा गया। आग-बबूला हो गये। बोले, सुनो—

खात हैं हराम दाम, करत हराम काम,
घर-घर तिनही के अपजस छावैंगे॥
दोजख हूँ जैहैं, तब काटि-काटि कीड़े खैहैं,
खोपरी को गूदो काग टोटिन उड़ावैंगे॥
कहै 'करनेश' अबै घूस खात लाजैं नहीं,
रोज़ा औ निमाज अन्त काम नाहिं आवैंगे।
कविन के मामले में करैं जौन खामी तौन
निमकहरामी मरे कफ़न न पावैंगे॥

जब कवियों की मान-हानि होती थी, तभी उनके विचार स्वातंत्र्य का पता चलता था। सिंह-शावक के सदृश उछल पड़ते थे। अनधिकारियों के सामने क्षणमात्र भी खड़ा रहना पसन्द नहीं करते थे। आत्म-गौरव का तो पूरा ख़्याल रखते थे। कोई भी हो, सच्ची-सच्ची कहने से चूकते न थे। मुँहफट

बुद्धिसेन ने लंपट और दुराचारी राजाओं को कैसा फटकारा है—

अन्यत्र—

बारी औ खँगार, नाऊ, धीमर, कुम्हार, काछी,
खटिक, जसौंधी ये हुजूर कों सुहात हैं।
कोल, गौंड, गूजर, अहीर, तेली नांच सबै,
पास के रहे तें कहा ऊँचे भये जात हैं?
'बुद्धिसेन' राजन के निकट हमेस बसैं,
कूकर बिलार कहा गुन अधिकात हैं?
दूरहिं गयंद बाँधे दूर गुनवान ठाढ़े,
गज औ गुनी के कहा मोल घटि जात हैं?

अन्यत्र—

नहिं जाति है बात गुनी की सुनो कवि कोविद पै इतराजी रहै।
निसि वासर पास जो पाजी रहै तौ महीप या कालके राजी रहैं॥

यदि ये दुराचारी लंपट नृपति नीचों का कुसंगति में न पड़ते, तो इनके वंश की कीर्ति-कौमुदी व लुप्त ही क्यों होती? इन कुलांगारों ने यदि समादरणीय सज्जनों का मान नहीं किया, तो क्या वे पतित हो गये? उनका कोई मान करे वा न करे, उन्हें कोई परवा नहीं। वे तो धूलभरे हीरे हैं। उन्हें जौहरी ही पहचानेगा।

समझ पड़ता है, अच्छे-अच्छे कवियों का भी मान-मर्दन हुआ है और इसी मान हानि ने उन्हें और भी ऊँचा कवि बना दिया है। महाकवि सेनापति ने अपात्रों पर कैसी घृणा प्रकट की है—

चिंता अनुचित, धरु धीरज उचित
'सेनापति' ह्वै सुचित रघुपति-गुन गाइए।
चारि बरदानि तजि पाय कमलेछन के
पायक मलेछन के काहे कों कहाइए?

म्लेच्छों का सेवक बनने में धरा ही क्या है? कमलाक्ष भगवान् के चरण-कमल ही परिसेव्य हैं।

महाकवि बिहारी के साथ भी प्रवंचना की गयी होगी। नीचे के दोहे में दुनियादारों की दगाबाज़ी दिखायी गयी है—

कब कौ ठाढ़ो दीन ह्वै, होत न कृष्ण सहाय।
तुम हूँ लागी जगतगुरु, जगनायक, जग-बाय !

कविवर लछिराम ने अनेक राज-दरबारों में चक्कर काटा, राजाओं के नाम पर रचनाएँ भी कीं और यत्र-तत्र मान-प्रतिष्ठा भी प्राप्त की। पर अंत में, उन्हें भी चाटुकारिता-प्रिय धनान्धों से घृणा हो गयी, जो निम्नलिखित छन्द से प्रकट होती है—

भरम गँवावै झरबेरी संग नीचन तैं
कटकित बेलि केतकीन पै गिरत है।
परिहरि मालती सु माधवी सभासरनि,
अधम अरूसन के अंग अभिरत ॥
'लछिराम' सोभा सरवर में बिलास हेरि,
मूरख मलिंद मन पल ना थिरत है।
रामचंद्र-चारु चरनांबुज बिसारि देस·
बन-बन बेलिन बबूर में फिरत है !

ऐसा स्वार्थ चूल्हे जाय, जिस के कारण नीच धनियों के आगे सिर झुकाना पड़े, उनकी झूठी तारीफ़ करनी पड़े। अरे मालिन मन, कँटीले बबूल को छोड़ कर अब भी अशरण शरण भगवान् के चरण कमलों का शरण ग्रहण कर ले।

सुकवि हृदय के पारखी होते हैं, रुपये पैसे के नहीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक सुप्रसिद्ध राज-दरबार में निम्न लिखित समस्या पूर्ति की थी। देखिये। इससे उनका क्या मनोभाव प्रकट होता है—

राधा-स्याम सेवैं, सदा वृन्दावन-वास करैं,
रहैं निहचिन्त पद-आस गुरुवर के।
चाहैं धन-धाम न अराम सों है काम,
'हरिचंदजू' भरोसे रहैं नंदराय घर के ॥

एरे नीच धनी ! हमें तेज तू दिखावै कहा !
गज परवाही नाहिं हाँय कवौं खर के ।
होइ लै रसाल ! तू भलेई जग जीव-काज,
आसी न निहारे ए निवासी कल्पतर के ॥

वास्तव में, इसी श्रेणी के कवि साहित्य के प्राण हैं। ऐसे ही स्वतन्त्रता प्रिय कवियों की कीर्त्ति युग युग चलती है। ऐसे ही कवियों की दृष्टि अन्तर्यामिनी होती है। यदि 'कवयः किं न जल्पन्ति' कहा जाता है, तो 'कवयः किं न पश्यन्ति !' भी कहा जा सकता है।

गोपनीय

अधखिली कली देख कर हमारे सहृदय सत्यनारायण कहते हैं—

गोपनीय रस रहै, पुरातन प्रथा भली है।
याही तें अधखिली रही यह प्रेमकली है॥

प्रेमकली का अधखिला रहना ही ठीक है। 'गोप्यं गोप्यं' जैसी पुरातन प्रथा निरर्थक नहीं। रस माधुर्य के गोप्य रखने में सभी साहित्य-सेवी सहमत हैं। पहुँचे हुए उस्तादों की यह ताकीद है कि भाई, रस को सदा संपुट ही में रखना। परदे के भीतर ही सब कुछ है। परदा खुल जाने पर अब कहाँ ? सारा मज़ा किरकिरा हो जाता है। बादल खुलने पर पपीहे की आशा पर पानी पड़ जाता है। श्याम-घटा में विरह है, जो रस है। खुल जाने पर वह कहाँ ? उसमें दामिनी की जो दमक है, दिगम्बर गगन में वह कहाँ। योगियों ने भी रस का छिपा लेना ही स्वीकार किया है। वे चित्त-वृत्ति-निरोध को 'समाधि' कहते हैं। इस दशा में वे ब्रह्मानन्द का गोप्य रसास्वादन किया करते हैं। अव्यक्त मनोवृत्तियाँ व्यक्त हो जाने पर वह शान्ति नहीं, वह आनन्द नहीं।

चतुर चतुर्मुख ने छः रस निर्मित किये। वे रसना के ही रस हैं। कवि ने नौ नवीन रस रच कर सहृदय जनों के सरस हृदय को तृप्त किया। इन

रसों ने हृदय और आत्मा में स्थान पाया। आज तक ये गोप्य रखे जाते हैं। जितना ही गुप्त रहेंगे, उतना ही आनन्द-प्रद होंगे। प्रकृति ने भी जहाँ-तहाँ रस छिपा कर ही रखा है मृग की नाभि में कस्तूरी संपुटित रहती है। दाड़िम का रस भी दो पर्त के अन्दर है। रसाल का रस क्या बाहर झलकता है? ईख का रस भी क्या गली-कूचे छलकते देखा है?

जो शरद के चन्द्रोदय में रस है, वह सुश्रुन के चन्द्रोदय में कहाँ? जो उन्मादकारी रस मकरध्वज के कुसुम-कृत बाणों में है, वह लोलिम्बराज के मकरध्वज में कहाँ? वसन्त-मालिनी सौरभ में जो रस है, वह चरक की वसन्तमालिनी में भला मिल सकता है? बात यह है, कि चन्द्र, मकरध्वज और वसन्त में रस संपुटित रहता है।

नींद-भरे अधमुँदे नेत्रों मे जो रस है, वह आँख फाड़-फाड़ कर देखने में नहीं। मन्द मुसक्यान और अट्टहास में कितना बड़ा अन्तर है! जब तक आँसू बाहर नहीं निकले तभी तक तो वियोगानन्द है। दिल के दरदीले फफोलों में भी एक अनुपम रस भरा रहता है। जो आह में मज़ा है वह ढाढ़ मार-मार कर रोने में नहीं। दिल की मीठी कसक का मजा रसिक ही जानते हैं। कलेजे में कसक का काँटा चुभा रहे, यही तो वे परमेश्वर से माँगा करते हैं—

कहा निकासन आई उरतें काँटो अरी हठीली।
चुभ्यौ रहन दै, लागति वाकी मीठी कसक चुभीली॥

(अनुराग वाटिका)

कसक में भी तभी तक मज़ा है, जब तक वह बाहर नहीं निकली। अपनी व्यथा सुनाने से क्या लाभ?

मनही राखौ गोय, 'रहिमन' या मन की बिथा।
बाँटि न लैहै कोय, सुनि इठलैहैं लोग सब॥

—रहीम

यहाँ पर मैं भी कुछ अंट संट कहूँगा—

मन की मनही गोय रहौ।
होनी अनहोनी निज बीती मति काहू सों कहौ॥
अपनी बिथा कथा कहि सब सों जग-हाँसी क्यों सहौ।
उर उमेठि किन कसक चुभीली गहनि गहीली गहौ॥
पीवत रहौ बिरह-रस जोपै छकनि रँगीली चहौ।
अपने कोइ प्यारे के बस ह्वै रस-प्रवाह में बहौ॥
विषम वियोग-उसास-अगिन तें कमर कलापनि दहौ।
गूँगे लौं रस चाखि-चाखि 'हरि' फल जीवन कौ लहौ॥

इसी से बस,

गहिये मुख मौन भई सो भई अपनी करि काहू सों का कहिये।

मौन व्रत का सुख अनुभवी ही जानते हैं। मौनावस्था को भगवान् ने, गीता में, अपनी विभूतियों में स्थान दिया है—

मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्

मौनावस्था वह मंजु मंजूषा है, जिसमें अनंत शान्ति-सम्पत्ति संपुटित रहती है। इसी के भीतर वैज्ञानिक को आविष्कार, कवि को अनोखी सूझ, प्रेमी को प्रियतम एवं योगी को आत्म-दर्शन मिलता है। यह महिमा रस-गोपन ही की है।

प्रकृति अपना भेद कभी किसी से नहीं खोलती। उसके समस्त रहस्य उसके गर्भ में रहते हैं। बीज में वृक्ष, पुष्पों में पराग, रसाल में मंजरी और आकाश में मेघ, जानते हो, किस अन्तर्भावना से साधना किया करते हैं! शैशव से कैशोर्य की झनक भी रस-गोपन का पता देती है। उस वयःसन्धि की शोभा का महाकवि बिहारी क्या ही मनोरम चित्र खींच गये हैं—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबन अङ्ग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता-रङ्ग॥

कौन जानता है, कि देखते-ही-देखते भोले-भाले नेत्रों में उन्मादकारी रस झलकने लगेगा, या अधरों से सुधारस छलकने लगेगा!

जब प्रकृति की यह दशा तब पुरुष के गोप्य रहस्यों का क्या पूछना

है ? वहाँ की पहेली तो बड़े-बड़े जासूसों से भी नहीं खुलती। यही कारण है कि उस की लीला अनंत और असीम आनन्दमयी है। जब भगवान् के ऐश्वर्य में इतना आनन्द है, तब उसके माधुर्य में कितना न होगा ! वह माधुरी अलौकिक है, अप्राकृत है। जिन्हों ने उसे पान किया, पागल हो गये। जिन्होंने अनुभव किया गूँगे बन गये। कहें तो कैसे ?

अपने प्रियतम का चित्र हृदय-पटल पर खींच कर प्रेमी उन्मत्त-सा हो जाता है। उस तसवीर को वह बाहर नहीं लटकाता, दिल के परदे में भी छिपाये बैठा रहता है। मीर हसन फ़रमाते हैं—

दिल के आईने में है तसवीरे यार।
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली ॥

रस गोप्य रखना ही समीचीन है ! अधिकारी आप ही रसानन्द को लूट लेगा। कस्तूरी ने क्या कभी अपने सौरभ का विज्ञापन बाँटा है ? भ्रमर से कौन कहने जाता है कि फूलों में पराग छलकने लगा है ! सारांश यह कि रस को सदा गोपनीय ही रखो।